वैराग्य त्रिवेणी

(भर्तृहरि वैराग्य शतक, तुलसी वैराग्य संदीपनी
और पूरण वैराग्य शतक पर प्रवचन)

अभिलाष दास

प्रकाशक
कबीर पारख संस्थान

प्रकाशक

कबीर पारख संस्थान

संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद–211011

दूरभाष : (0532) 2436820, 2436020, 2436100

Visit us : www.kabirparakh.com

E-mail : kabirparakh@yahoo.com

प्रस्तुति–यशेन्द्र दास

पहली बार वि० सं० 2067, सन् 2010

सत्कबीराब्द 612

ISBN : 978-81-8422-196-1

मूल्य : ००.०० रुपये

मुद्रक

इण्डियन प्रेस प्रा० लि०

पन्ना लाल रोड, इलाहाबाद

Vairagaya Triveni : ABHILASH DAS

वैराग्य त्रिवेणी

(भतृहरि वैराग्य शतक, तुलसी वैराग्य संदीपनी और
पूरण वैराग्य शतक पर प्रवचन)

आमुख

महाराज भर्तृहरि उज्जयिनी (उज्जैन) के राजा थे। बाद में वे उत्कट वैराग्यवान हुए। जहां तक उनके विषय में प्रचलित है, वह यह है कि राजा भर्तृहरि संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने श्रृंगार शतक, नीति शतक और वैराग्य शतक इन तीन पुस्तकों की रचना की। श्रृंगार शतक और नीति शतक उन्होंने राजकाज के समय रचा था। जब विरक्त हुए, तब उन्होंने वैराग्य शतक रचा। उनकी रानी पिंगला थी, जिसमें वे अति आसक्त थे। पिंगला के मोह में वे रनिवास में ही पड़े रहते थे। मंत्री लोग काम-धाम देखते और करते थे। वे अत्यन्त योग्य होते हुए भी स्त्री में इतने आसक्त हो गये कि उनको राज-काज का होश-हवास ही नहीं था। किंतु उनकी रानी घोड़ा-दरोगा में आसक्त थी। यह बात राजा को कैसे पता चले? राजा से यह बात कौन कहे? 'कौन कहे कि राजा तन ढांक कर चलो!'

उनके छोटे भाई विक्रमादित्य थे। यह सब देखकर उनको बड़ा कष्ट हुआ। उनको सहन नहीं हुआ। उन्होंने राजा भर्तृहरि से कहा कि आप भाभी जी में अत्यन्त मोहित हैं, लेकिन वे आपके हाथ में नहीं हैं। उनको बड़ी ठोकर लगी। स्त्रैण आदमी अपनी हर बात रानी से कहता है। जो नहीं कहना चाहिए वह भी कहता है। अतएव भर्तृहरि ने अपनी रानी से यह सब कहा। वह बहुत क्षुब्ध हो गयी और कहने लगी कि विक्रमादित्य स्वयं भ्रष्ट है। वह अपनी भ्रष्टता छिपाने के लिए मुझ पर दोषारोपण करता है। कुछ दिनों में उसकी भ्रष्टता अपने आप खुल जायेगी।

उसने षड्यंत्र किया। नगरसेठ को बुलाया और कहा कि तुम विक्रमादित्य पर आरोप लगाओ कि वह मेरी बहू को चाहता है। सेठ ने कहा, विक्रमादित्य तो देवस्वरूप हैं, मैं यह कैसे कहूं? पिंगला ने कहा- नहीं कहोगे तो तुम्हारा कुशल नहीं होगा। तुम्हारा परिवार सहित विनाश करवा दूंगी। आदमी जितना विषयासक्त होता है उतना क्रूर होता है। काम जब असफल होता है तब क्रोध बढ़ता है, और काम जब सफल होता है तब लोभ बढ़ता है। काम ही केन्द्र में है।

सेठ ने मजबूर होकर विक्रमादित्य पर दोषारोपण किया कि वे मेरी बहू

को चाहते हैं और बलात चाहते हैं, इससे मैं बहुत दुखी हूं। इसका कुछ प्रबंध हो, नहीं तो मैं राज्य छोड़ दूंगा। यह सुनकर भर्तृहरि को बड़ा कष्ट हुआ। पिंगला ने कहा–इसने मेरे लिए कुछ कहा था। वह इसीलिए कहा था कि मैं निरस्त हो जाऊं तो इसकी धांधली चलती रहे। उसने राजा भर्तृहरि को बहुत कुछ सिखाया–पढ़ाया। राजा ने विक्रमादित्य से कहा–तुम देश से निकल जाओ, बस यही दण्ड है। विक्रमादित्य ने कहा–भैया! आपको पछताना पड़ेगा। मैं तो निकल जाऊंगा। वे निकल गये।

कुछ दिनों के बाद एक ब्राह्मण एक फल लाया जो बड़ा सुन्दर और अच्छा था। उसने राजा को दिया। राजा ने उसको इनाम दिया। हर आदमी अपनी प्रिय वस्तु अपने प्रियतम को देना चाहता है। भर्तृहरि की प्रियतमा पिंगला थी। राजा ने उसे फल दिया और कहा–यह बड़ा अद्भुत फल है इसको तुम खाओ। उसने कहा–मैं स्नान करके खाऊंगी। भर्तृहरि राजदरबार चले गये। पिंगला ने तुरंत घोड़ा–दरोगा को बुलाया और उससे कहा कि यह बहुत उत्तम फल है, इसको तुम खाओ। वह ले लिया और उसने भी कहा–इसे मैं स्नान करके खाऊंगा। लेकिन वह जितना आसक्त पिंगला में था उससे ज्यादा आसक्त नगर–वेश्या में था। घोड़ा–दरोगा फल लेकर नगर–वेश्या के पास पहुंचा, और कहा कि देखो, यह कितना उत्तम फल है, इसे मैं तुम्हें देता हूं। वेश्या ने कहा–इसे मैं स्नान करके खाऊंगी। वेश्या उस फल को लेकर राजा के पास पहुंची और उन्हें समर्पित किया। राजा ने पूछा–यह फल तुमने कहां से पाया? वह परेशान हो गयी, लेकिन बताना पड़ा–घोड़ा–दरोगा से पाया। घोड़ा–दरोगा बुलाया गया। राजा ने पूछा–यह फल तुमने कहां से पाया? उसको भी कहना पड़ा कि रानी से। फिर वह फल लेकर रनिवास में गया। राजा फल को छिपा रखा था। पिंगला से कहा–तूने फल खाया? उसने कहा–वाह! इसमें भी संदेह! राजा ने फल दिखाया और कहा, यह कहां से आया? फल देखकर पिंगला बेहोश हो गयी। समझ गयी कि आज मेरी सारी पोल–पट्टी खुल गयी। किन्तु राजा ने कुछ नहीं किया। राजा चाहता तो पिंगला और घोड़ा–दरोगा को मरवा देता और दूसरी शादी कर लेता। लेकिन उसके मन में अखण्ड वैराग्य उत्पन्न हो गया, और वह एक क्षण भी वहां नहीं रहना चाहा। तब तक विक्रमादित्य के विषय में भी पता चल गया था कि वे निर्दोष हैं।

विक्रमादित्य के लिए वह रोया, और मंत्रियों से कहा कि विक्रमादित्य को खोजकर लाओ और उन्हें गद्दी पर बैठाओ। मैं एक क्षण भी यहां नहीं रह सकता। उन्होंने राजशाही कपड़े उतारकर फेंक दिये और वे संन्यासी हो गये। उन्होंने कहा–

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता।
साप्यन्यमिच्छति जने सजनोऽन्यसक्तः॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च माम् च॥

जिसका मैं निरंतर चिंतन करता हूं, वह पिंगला घोड़ा–दरोगा का चिंतन करती है। घोड़ा–दरोगा वेश्या में आसक्त है, वेश्या मेरे में। इसलिए उसको धिक्कार, उसको धिक्कार, मुझको धिक्कार और धिक्कार है काम को जो सारा कांड करवा रहा है। फिर उन्होंने दूसरा श्लोक कहा–

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

भोग में रोग का भय है। जो जितना भोगी होगा वह उतना रोगी होगा। कुल–परिवार के बढ़ जाने पर पतन का भय लगा रहता है। धन बढ़ जाने पर राजा, चोर, डाकू आदि का भय लगा रहता है। मानी आदमी को दीनता का भय लगा रहता है, कि लोग मुझे छोटा न मान लें। बली आदमी को दुश्मनों का भय लगा रहता है। सौंदर्य में बुढ़ापा का भय लगा रहता है क्योंकि कितना ही रूप–सौन्दर्य हो, बुढ़ापा आने पर सब समाप्त हो जाता है। शास्त्रार्थ में हार जाने का भय लगा रहता है। गुणों में दुष्टों का भय लगा रहता है। सद्गुणियों को दुष्ट लोग निंदित करते हैं। काया में कृतान्त–मृत्यु का भय लगा रहता है। **सर्वं वस्तु भयान्वितम्** संसार की सारी वस्तुएं भय से भरी हैं। **भुवि नृणाम् वैराग्यमेवाभयम्** संसार में मनुष्यों के लिए एक वैराग्य ही निर्भय पद है।

भर्तृहरि महाराज महान वैराग्यवान संत हुए। श्री पूरण साहेब ने भी अपने वैराग्य शतक में उनको याद किया है। भर्तृहरि का वैराग्य शतक

संस्कृत श्लोकों में है। श्री प्रतापसिंह नाम के कोई विद्वान हुए हैं, उन्होंने इसका हिन्दी छन्दों में अनुवाद कर दिया है। श्री हरिदास वैद्य ने अपने वैराग्य शतक भाष्य में उन्हें यथास्थान रखा है। परंतु कुछ श्लोकों का हिन्दी छंद नहीं है। उनका हिन्दी छंद मैंने बना दिया है। जो मेरे बनाये छंद हैं उन्हें इटैलिक्स में छापा गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी प्रसिद्ध महात्मा और कवि हैं। उनकी एक छोटी रचना 'वैराग्य संदीपनी' है, जो अमृतवचन है। श्री पूरण साहेब कबीरपंथ में महान वैराग्यवान संत हो गये हैं, जिन्होंने बीजक की प्रथम टीका त्रिज्या लिखी है। उनकी एक रचना 'वैराग्य शतक' नाम से है जो वैराग्य-भावों से भरी है।

भर्तृहरि वैराग्य शतक गोस्वामी जी की वैराग्य संदीपनी तथा श्री पूरण साहेब के वैराग्य शतक पर अनेक बार मेरे प्रवचन होते रहे। एक बार के प्रवचन की रिकार्डिंग को साधु यशेन्द्र दास जी ने लिख डाला, जो पुस्तकाकार में आपके हाथों में है। पढ़ें और लाभ लें।

सद्गुरवे नमः

वैराग्य त्रिवेणी

भर्तृहरि वैराग्य शतक

अजर अमर त्रयकाल सत्य जो अनन्त चेतन।
निज अनुभव से जानि जात जो शांत तेज घन॥
निर्विकार निर्द्वन्द्व सदा सर्वोपरि सोई।
तेहि पद दर्शक दिव्य रहनियुत बोधक जोई॥
ऐसे मुक्त स्वरूप जो श्री गुरुवर के चरण चित।
शीश झुकावत दास ये जनम मरण भय हरण हित॥

अजर अमर त्रयकाल सत्य जो अनन्त चेतन। जो अजर है, जीर्ण नहीं होता, जो अमर है, मरता नहीं। त्रयकाल है, पीछे था, आज है और आगे भी रहेगा। मैं हूं, इसमें कोई संदेह नहीं। कल-परसों भी था, दस वर्ष पूर्व भी था, आज भी हूं, और जीवनभर 'मैं' का अस्तित्व रहता है। वस्तुतः मैं इस जीवन के पहले भी था और जीवन के न रहने पर भी रहूंगा। जो असत्ता में हो वह सत्ता में नहीं आता, और जिसकी सत्ता है, वह असत्ता में नहीं जाता। केवल बाहरी रूप परिवर्तित होता है, मूल वस्तु मिटती नहीं। इसलिए तीनों काल में चेतन है और सत्य है, अनंत है। अनंत का मतलब जिसकी समाप्ति न हो।

अनंत के दो अर्थ होते हैं। पहला—सब देश में व्याप्त-अनंत, और दूसरा—सब काल में अनंत। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह देश में अनंत और जो सब समय रहे वह काल में अनंत। कोई भी नित्य वस्तु काल में अनंत होती है, देश में अनंत नहीं होती। कोई वस्तु देशव्यापी नहीं होती है कि सब देशों में वह व्याप्त हो। अगर कोई अखण्ड वस्तु सब देश में व्याप्त हो, तो दूसरी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। एक जगह में, एक काल में एक ही वस्तु रहेगी। अगर कोई वस्तु सर्वत्र परिपूर्ण है, तो इसका कहने वाला भी दूसरा नहीं होगा। इसलिए सारे देश में व्याप्त यानी देश की दृष्टि से कोई वस्तु व्याप्त नहीं है। काल की दृष्टि से व्याप्त है कि पहले था, आज है और आगे रहेगा। तो 'अनंत चेतन' यह चेतन अनंत है, इसका अंत नहीं होता, नित्य है।

निज अनुभव से जानि जात जो शांत तेज घन। स्वरूप से वह शांत है, ज्ञान स्वरूप है। घन ठोस है, अखण्ड है। यह अपने अनुभव से ही जाना जाता है। जब सारे विचार शांत होते हैं, तब स्वरूप का अनुभव होता है। वाणी द्वारा हम निर्णय करते हैं। निर्णय में ही जीवन भर न रह

जायें, किन्तु इसका अनुभव भी करें। निर्णय बीच-बीच में होता रहे, और बीच-बीच में साधना का अनुभव भी होता रहे। सारे विचारों को छोड़कर जब चित्त स्थिर होता है, तब अपना स्मरण होता है कि इन सारे स्मरणों का साक्षी मैं शेष रह गया, एकदम शांत हो गया, मन का भवसागर शांत हो गया।

निर्विकार निर्द्वन्द्व सदा सर्वोपरि सोई। सोई वह चेतन निर्विकार है, निर्द्वन्द्व है, निर्भय है और सदैव सर्वोपरि है। सारे विकार मनजनित हैं, मान्यता से हैं, न समझ करके हैं, आदतन हैं। विषय-वासना की आदत, स्वरूप के अज्ञान और खोटे संस्कार इन सबके कारण विकार आते हैं। साधक समझे कि मेरा स्वरूप निर्मल है और विकारों को दूर करे। कुसंग न करे। कुसंग सर्प और बिच्छू से भी भयंकर समझना चाहिए। कुचिंतन जहर है। कभी कुचिंतन न करे। **निर्द्वन्द्व** जिसमें हानि-लाभ, सुख-दुख, संयोग-वियोग का द्वंद्व न हो। द्वंद्व कहते हैं दो को, दुविधा को, झगड़े-प्रपंच को। जो अकेला है, केवल है, वहां द्वंद्व नहीं है। **सर्वोपरि** है, आत्मसत्ता ही सर्वोपरि है। जहां तक संसार का प्रपंच है, वह मायामय है, विकारी है। लेकिन उसको जानने वाला उससे ऊपर है, सर्वोपरि है।

तेहि पद दर्शक दिव्य रहनियुत बोधक जोई। इस पद का जो दर्शन कराता है, स्वरूपज्ञान का जो दर्शन कराता है, इस दिव्य बोध को देता है, वह रहनी युक्त बोधक सद्गुरु है। **बोधक** बोध देने वाला। इस ज्ञान का बोध देने वाला सद्गुरु है, जिसमें अभिव्यक्ति-शक्ति हो और रहनी की शक्ति हो। अभिव्यक्ति-शक्ति के बिना पूरा बोध नहीं दे सकता। कोई रहनी संपन्न संत है, तो उनसे बड़ी प्रेरणा मिलती है, लेकिन उनमें अभिव्यक्ति-शक्ति होनी चाहिए, वह ठीक से साधक को समझा सके। जो कहते हों उस रहनी में टिके हों। दोनों बातें चाहिए। अभिव्यक्ति-शक्ति और रहनी की शक्ति, ये दोनों शक्ति जिसके पास हैं, ऐसे सद्गुरु उस स्वरूप का बोध देते हैं।

शीश झुकावत दास ये जनम मरण भय हरण हित। यह दास जन्म-मरण के भय से मुक्त होने के लिए, ऐसे सद्गुरु के चरणों में शीश झुकाता है। भर्तृहरि जी कहते हैं कि मैं जन्म-मरण से डरा हूं। जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर इस संसार में भटकता हूं। यहां दुख के सिवा और

कुछ मिलता नहीं है। निरसता, निरसता, निरसता। निरसता सब तरफ है। क्षणभंगुरता के अलावा और कुछ हाथ में लगने वाला नहीं है। भटकाव-भटकाव है, इसलिए मैं चाहता हूं कि यह भटकाव बंद हो, और अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो। अतएव सद्गुरु के चरणों में शीश झुकाता हूं कि वे हमें बोध दें और हमारा निस्तार करें।

कुण्डलिया-2

पण्डित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान।
और जीव या जगत के मूरख महा अजान॥
मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।
छन्द प्रबन्ध कवित्त काव्य रस कासो कहिए॥
वृद्ध भई मन माँहि मधुर वाणी गुण मण्डित।
अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पण्डित॥

पंडित मत्सरता भरे। भर्तृहरि जी कहते हैं, पंडित लोग मन में मत्सरता भरे हैं, ईर्ष्या में हैं। वे दूसरे के पांडित्य को सहना नहीं चाहते। **भूप भरे अभिमान।** राजा लोग अपने अभिमान में चूर हैं। कुछ सुनना ही नहीं चाहते हैं। **और जीव या जगत के मूरख महा अजान।** बाकी जीव जो जगत के हैं, वे मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं। उनके कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। **मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।** उनको देखकर संकट होता है। वे कुछ समझ ही नहीं पाते हैं।

छन्द प्रबन्ध कवित्त काव्यरस कासो कहिए। ये छंद, प्रबंध, कवित्त और काव्यरस किससे कहा जाय! छंद कविता के रूप में बनाये जाते हैं। छंद का अर्थ होता है ढका हुआ। छंद में खुलासा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि छंद की एक-एक पंक्ति में इतने वर्ण-मात्रा होने चाहिए यह बंधन होता है। खुलासा कहने से वर्ण-मात्रा बढ़ जायेंगे या घट जायेंगे। इसलिए छंद में भाव ढका होता है। इसीलिए छंद कहा जाता है। 'प्रबंध' का मतलब है बांधना। 'प्र' विशेषण है और 'बंध' बंधन। किसी कहानी के रूप में या कथा में किसी भाव को बांधना प्रबंध है। 'कवित्त' कविता। 'काव्य रस' शृंगार, वीर, हास्य आदि रस होते हैं अथवा काव्य

गान से आनंद आता है। भर्तृहरि महाराज कहते हैं, ये सब किससे कहा जाय!

वृद्ध भई मन माँहि मधुर वाणी गुण मण्डित। गुणों से संपन्न मधुर वाणी मन ही में बूढ़ी हो गयी। **अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पंडित।** पंडित अपने मन को मार कर मौन हो बैठ जाता है कि किससे कहा जाय! सुनने वाला कोई नहीं है। सुनने वालों का आज अभाव है, पहले भी अभाव था। बहुत पहले भर्तृहरि महाराज ने यह श्लोक कहा है। कोई सुनने वाला नहीं मिलता है। वेदव्यास ने भी यही कहा था कि कोई सुनने वाला नहीं है, मैं ऊंचे पर खड़ा भीड़ में अपने हाथों को ऊपर उठाकर कहता हूं, लेकिन कोई सुनने वाला नहीं है। धर्म से ही अर्थ और मोक्ष दोनों मिलते हैं, ऐसे धर्म का सेवन क्यों नहीं करते हो।

छप्पय-3

पुण्यहु फल भय देत विषय सुख करि एकत्रै।
बहुत काल सुख भुगै साधि शुभ कर्म विचित्रै॥
सुख चाहत बहु विषय भोग जो नाना धारण।
अन्त काल सब भोग होत ये दुख के कारण॥
मेरे बुद्धि विचार से संसारी सब कर्म में।
सुख दीखत कछुहू नहीं वरु दूनों दुख भर्म में॥

पुण्यहु फल भय देत। पुण्य का फल भी भय देता है। बहुत पुण्य किया, तो पुण्य करने का फल हुआ कि बहुत धन-धान्य से संपन्न हो गये। इससे विषय-सुख के पदार्थ इकट्ठे किये गये, तो वे भय ही तो उत्पन्न करेंगे।

बहुत काल सुख भुगै साधि शुभ कर्म विचित्रै। शुभ कर्म करके बहुत काल तक सुख-भोग करते हो गये। लेकिन उनका छूट जाना पक्का है। स्वर्ग की कल्पना की गयी है कि मर जाने के बाद पुण्य कर्म करने वाले को स्वर्ग मिलेगा। लेकिन स्वर्ग में भी क्या है? वही सांसारिक भोग। और **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति।** जब पुण्य क्षीण हुआ तब मृत्युलोक में फिर आ गये। निर्भयता तो वहां भी नहीं है।

सुख चाहत बहु विषय भोग जो नाना धारण। विषय भोगों के नाना पदार्थ और नाना सुख की चीजें पाकर इंद्रियों को उनमें निरंतर लगाये रखने की जो चेष्टा होती है, उसको समझना चाहिए कि **अंतकाल सब भोग होत ये दुख के कारण।** अंत में सारे भोग दुख के कारण बनते हैं। भोगों से इंद्रियां चंचल होती हैं, मन चंचल होता है और वासना बनती है। वही वासना जीव को बैठने नहीं देती। इंद्रियां भोगों में पड़कर कमजोर होती हैं। अतएव इंद्रियों से भोग भी संभव नहीं रह जाता। मन तो ठहरता नहीं, चंचल बना रहता है। अतएव भोगों में उद्वेग के सिवा और कुछ नहीं है।

एक सुन्दर नवयुवक महात्मा जा रहे थे। एक राजा पीछे से रथ पर बैठा हुआ आ गया। राजा बूढ़ा हो गया था। वह रथ से उतर पड़ा, और महात्मा के पीछे चलने लगा। राजा ने महात्मा से कहा—मैं बूढ़ा हो गया हूं। मेरे रनिवास में सुन्दर-सुन्दर युवतियां हैं, लेकिन मैं असमर्थ हो गया हूं। मुझे संतान भी नहीं है। महाराज, आप मेरे रंगमहल के बाग में रहें। वहां सब प्रकार के भोग निर्यत्न उपस्थित हैं। कृपा करें, आप वहां दर्शन दें। महात्मा उच्छवास लेकर खड़े हो गये और कहा—तू अपना सत्यानाशी वचन लौटा ले। यह तूने क्या कहा? बिना यत्न के तू भोग देगा! ठीक है, मुझे मेहनत नहीं करना पड़ेगा, लेकिन भोगों के लिए मन तो मुझे चलाना पड़ेगा। जब मेरा मन पतित हो जायेगा, तब मैं भोगों में लगूंगा। तब मेरे में क्या रह जायेगा? इंद्रियां चंचल होंगी, मन चंचल होगा। चंचल मन मुझे दुखाया करेगा। फिर कभी तृप्ति और संतोष न होगा। यह दुख तो मुझे ही भोगना पड़ेगा। तेरे को हिम्मत कैसे हुई ऐसे सत्यानाशी वचन कहने की ? राजा ने क्षमा मांगी। तो संसार के भोग बिना यत्न के ही मिल जायें, तो भी उन्हें भोग कर मन चंचल होगा! सुख का रास्ता मन की शांति है। अतः भोगों से बचना है। जो आवश्यक शरीर-निर्वाह है, उसको भी बहुत संयमपूर्वक लेना चाहिए। स्वाद की आसक्ति न हो, और किसी वस्तु की आसक्ति न हो। अनासक्त होकर शरीर रक्षण मात्र लेकर प्रारब्ध गुजर करें। किसी भी भोग में सुख तो क्षणमात्र भी नहीं है, बल्कि दुख और पश्चाताप है।

छप्पय-4

खोदत डोल्यों भूमि गड़िहु ना पाई सम्पत्ति।
धौंकत रह्यों पखान कनक के लोभ लगी मति॥
गये सिन्धु के पास तहाँ मुक्ताहु न पायों।
कौड़ी कर नहिं लगी नृपन को शीश नवायों॥
साधे प्रयोग श्मशान में भूत-प्रेत बैताल सजि।
कतहूँ वाँछित ना भयो अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

भर्तृहरि जी को धन के लिए भटकना नहीं पड़ा था। वे संसार की दीन–दशा को चित्रित करते हैं। वे अपने ऊपर उतार कर प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में कहते हैं–

खोदत डोल्यों भूमि गाड़िहु ना पाई सम्पत्ति। मैं जगह–जगह जमीन को खोदता रहा। कहीं धन मिल जाये जो मेरे दादे–पुरखे का गाड़ा हुआ हो। घर में कई कोठरियां खोद डालीं, और बाहर भी जहां अनुमान लगा, खोद डाला, लेकिन धन नहीं मिला।

धौंकत रह्यों पखान कनक के लोभ लगी मति। पत्थर को फूंकता रहा कि कहीं उसमें सोना मिल जाय। **गये सिन्धु के पास तहां मुक्ताहु न पायों।** समुद्र के पास गया। उसमें डुबकी लगायी कि मोती मिल जाय, लेकिन वहां मोती भी न मिला। **कौड़ी कर नहिं लगी नृपन को शीश नवायों।** राजाओं के पास गया। हीं–हीं–हीं–हीं करता रहा, लेकिन राजाओं ने भी एक कौड़ी नहीं दी। **साधे प्रयोग श्मशान में भूत-प्रेत बैताल सजि।** श्मशान में गया जहां भूत–प्रेत बैताल माना जाता है। उनको सिद्ध करने की चेष्टा की कि वे हमें धन दें। एक जैनी महात्मा कहते थे कि भूत–प्रेत होते हैं। उन्होंने अपने भक्तों से कहा–ओ देखो! भूत उनके यहां चांदी और सोने के सिक्के ऊपर से छप्पर फाड़कर गिरा देता था। मैंने कहा–यह तो बहुत काम का भूत है। अगर ऐसा भूत मिल जाये तो बहुत अच्छा है रोज सिक्का गिराता रहे। ऐसी भ्रांति है कि भूतों को सिद्ध कर लो तो अनायास वह धन दे जायेगा।

बचपन में सुना करता था कि अयोध्या में जो टेढ़ी बाजार है वहां इमिरती बनती है। इमिरती जलेबी के आकार की होती है किंतु उससे ऊंचे

स्तर की होती है। लोग कहते हैं, वहां की इमिरती मनुष्य के खाये खत्म नहीं होती, जिन्द खाते हैं। जिन्द आते हैं, वे रुमाल में रुपये बांधे रहते हैं। बोलते नहीं हैं। हलवाई को देते हैं और हलवाई समझ लेता है। वह तौल कर उतने की इमिरती उसकी रुमाल में बांध देता है। वह चला जाता है। तो टेढ़ी बाजार की इमिरती जिन्दों के खाने से खत्म होती हैं, आदमी खाकर खत्म नहीं कर सकते। कहावतें ऐसी-ऐसी होती हैं कि लगती हैं सच हैं। भूत-प्रेत-बैताल को कोई साध ले तो ये धन दे जायें, क्योंकि ये सर्वगत होते हैं, कहीं भी पहुंच जाते हैं, और धन ला सकते हैं, इस भ्रम में भटकता रहा। कहीं भी तृष्णा पूरी नहीं हुई। **अब तो तृष्णा मोंहि तजि।** ऐ तृष्णा! अब तो तू मुझे छोड़ दे।

छप्पय-5

भटकों देश विदेश तहाँ फल कछुहु न पायों।
निज कुल को अभिमान छोड़ि सेवा चित लायों॥
सहि गारी वो खीझ हाथ झारत घर आयों।
दूर करत हूँ दौर श्वान जिमि परगृह खायों॥
यहि भांति नचायो मोंहि तैं बहकायो दै लोभ तल।
अजहूँ ना संतोष कछु तृष्णा! तू पापिन प्रबल॥

यहां भी भर्तृहरि जी उसी ढंग से कहते हैं। वे संसार के तृष्णालुओं का चित्रण करते हैं। कहने वाला कहता है कि मैं देश-विदेश में भटका, लेकिन कुछ फल न मिला। पैसे के लिए, धन के लिए देश-विदेश भटकता रहा। **निज कुल को अभिमान छोड़ि सेवा चित लायों।** अपने कुल का अभिमान छोड़ दिया और नीचों की मैंने सेवा की। कितने धनवान हैं, वे धन से ऊंचे लगते हैं, लेकिन स्वभाव से बड़े नीच होते हैं, महाकुकर्मी, महालंपट, महादुराचारी। उनकी सेवा मैंने की। **सहि गारी वो खीझ हाथ झारत घर आयों।** उनके क्रोध और कटुवचन सहा। इसके बाद भी मैं लौटा तो हाथ झाड़ते हुए ही।

दूर करत हूँ दौर श्वान जिमि परगृह खायों। ऐसे धनवान लोग मुझे दुर-दुर करते रहे। लेकिन जैसे कुत्ते खदेड़े जाने पर भी फिर दौड़-दौड़

कर घरों में जाते हैं वैसे मैं धनवानों के पास जाता रहा। **यहि भांति नचायो मोंहि तैं बहकायो दै लोभ तल।** इस प्रकार ऐ तृष्णा! तूने लोभ दे-देकर मुझे भटकाया। **अजहूँ न संतोष कछु तृष्णा! तू पापिन प्रबल।** ऐ तृष्णा! तू महा पापिन है। आज भी तुझे संतोष नहीं हो रहा है।

छप्पय-6

सहे खलन के बैन इतै पर तिनहिं रिझाये।
नैनन को जल रोक शून्य मन मुख मुसक्याये॥
देत नहीं कछु चित्त तऊ कर जोर दिखाये।
कर कर चाउ करोर भोर ही दौरत आये॥
सुन आश! प्यास तेरी प्रबल तू अति अद्भुत गति रहत।
यहि भांति नचायो मोहि अब और कहा करिबो चहत॥

मैंने दुष्टों के वचनों को सहा, लेकिन उनको रिझाने के चक्कर में लगा रहा। **सहे खलन के बैन इतै पर तिनहिं रिझाये।** उन दुष्टों के कटु वचन सहे। धनवान लोग नहीं समझते हैं कि हमारे नौकर भी आदमी हैं। सब अपने-अपने पेट के नौकर हैं। जिसे धनवान कहते हैं क्या वह नौकर नहीं है? आदमी को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल मैं आदमी हूं, किन्तु नौकर भी आदमी है। **लेकिन धन का नशा जिस पर आन चढ़ा, सर के शैतान पर एक और भी शैतान चढ़ा।** धन का नशा जिसके ऊपर चढ़ता है, मानो शैतान के ऊपर एक और शैतान चढ़ जाता है। धन ही क्या, विद्या का नशा, पुजापा का नशा, साधु-महंत होने का नशा, विद्वान होने का नशा, ऊंचे पदाधिकारी होने का नशा। नशा ही क्या जो भुला न दे। चार कौड़ी बटोर लिए, थोड़ा कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा हो गया, फिर अपने को धनी कहलाने लगे। फिर न जबान स्थिर है, न आचरण स्थिर है। इन धनिक दुष्टों के मैंने कटु वचन सहे। रात-दिन इन्हें रिझाने के चक्कर में पड़ा रहा।

नैनन को जल रोक शून्य मन मुख मुसक्याये। उनकी बातों को सुनकर आंखों से आंसू आ गये, किन्तु उन्हें रोक कर शून्य मन से मुस्कुरा दिया। कितना बढ़िया कथन है। मुस्कराने का मन कहां हो सकता है, जहां

गाली-मार मिलती हो, लेकिन ऊपर से मुस्करा दिया। **देत नहीं कछु चित्त तऊ कर जोर दिखाये।** कुछ भी वे नहीं दे रहे हैं, फिर भी मैं बारम्बार उनके सामने हाथ जोड़ता हूं। **कर कर चाउ करोर भोर ही दौरत आये।** करोड़ों आशा रखकर मैं उन दुष्टों के पास सुबह-सुबह पहुंचा। **सुन आश! प्यास तेरी प्रबल तू अति अद्भुत गति रहत।** ऐ आशा! तेरी प्यास बड़ी प्रबल है, बड़ा अद्भुत है। इस प्रकार तूने मुझे आज तक नचाया। अब क्या करना चाहती है! **अब और कहा करिबो चहत।**

छप्पय-7

उदय अस्त रवि होत आयु को छीन करत नित।
गृह-धन्धे के मांहि समय बीतत अजान चित्त॥
आँखिन देखत जन्म जरा अरु विपति मरण नित।
तऊ डरत नहिं नेकु शंकहु करत न कछु चित॥
जग जीव मोह-मदिरा पिये छाके फिरत प्रमाद में।
गिर परत उठत फिर-फिर गिरत विषय वासना स्वाद में॥

उदय अस्त रवि होत आयु को छीन करत नित। सूरज उदय होता है और अस्त होता है, और हमारी आयु को निरंतर क्षीण करता है। हम समझते हैं कि हम बढ़ रहे हैं। हम इतनी उम्र के हो गये। लोग बच्चे का जन्म दिवस मनाते हैं, वर्षगांठ मनाते हैं। अरे! एक वर्ष और घट गया। शोक करने की जगह है। हर्ष करने की जगह कहां है? कहां प्रमाद करने की जगह है? कहां भूल रहे हो? **सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूं ही तमाम होती है।**

गृह धन्धे के मांहि समय बीतत अजान चित। घर के धंधे में पड़कर अजान चित्त हो समय बीतता चला जा रहा है। बस, वही शौच, स्नान, खाना-पीना, काम-धंधा, व्यापार-बट्टा, खेती-बारी, नौकरी-चाकरी, राग-द्वेष, हानि-लाभ, पत्नी-बच्चे, माता-पिता, भाई-बिरादर के राग-द्वेष, पड़ोसी के राग-द्वेष, इसी में चित्त निरंतर घूम रहा है। जीवन का फल क्या मिलता है? अज्ञानी बनकर सुबह से नित्य-क्रिया और घर के धंधे में

समय बीत रहा है।

आँखिन देखत जन्म जरा अरु बिपति मरण नित। तुम आंखों से देख रहे हो, जन्म हो रहा है और धीरे-धीरे उम्र बीत कर जरा अवस्था आ जाती है। बीच-बीच में विपत्तियां आती हैं। प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, असाध्य व्याधि, धन की भारी हानि, ये सब विपत्तियां आती हैं और अंत में मरण अवस्था आ जाती है। ये सब आंखों से तुम देख रहे हो। **तऊ डरत नहिं नेकु शंकहु करत न कछु चित।** इतने पर भी तुम डर नहीं रहे हो। विषय-वासनाओं से, सांसारिक माया-मोह से तुम डरते नहीं हो। इसी में फंस-फंस कर सारा दुख है। और फिर इसी में चिपक रहे हो। थोड़ी भी चिंता नहीं करते हो कि तुम किधर जा रहे हो? क्या कर रहे हो?

जग जीव मोह मदिरा पिये छाके फिरत प्रमाद में। जग के सारे जीव मोह की मदिरा पी रखे हैं, और उसके प्रमाद में छककर घूम रहे हैं। **गिर परत उठत फिर-फिर गिरत विषय वासना स्वाद में।** वे गिरते हैं, उठते हैं, और जीवनभर ऐसे उठते-गिरते रहते हैं, और विषय-वासना स्वाद में पड़े रहते हैं। रोते हैं, धोते हैं, फिर वही काम करते हैं। **सौ-सौ जूता खाय तमाशा घुस के देखे।** सौ-सौ जूता खाते हैं लेकिन घुसकर तमाशा देखते हैं। जिनसे सारी दुर्गति सहते हैं, उन्हीं भोगों के राग-द्वेष में पड़े रहते हैं।

छप्पय-8

फट्यो पुरानो चीर ताहिं खैंचत अरु फारत।
छोटे-छोटे बाल दुक्ख ही दुक्ख पुकारत॥
घर माही नहिं अन्न नारिहू निर्दय याते।
भई महा जड़ रूप करत मुख सो नहिं बाते॥
यह दशा देखि अक्खरत चित जीव थर-थरत रुकत मुख।
अपने गुजरे या उदर हित देह कहै को सत पुरुष॥

गरीब घर है। गृहिणी के कपड़े फटे-पुराने हैं। घर में अन्न नहीं है। वह बच्चों को क्या दे? बच्चे पुराने और फटे कपड़े को पकड़-पकड़कर

खींचते हैं कि माता भूख लगी है, भूख लगी है। **छोटे-छोटे बाल दुक्ख ही दुक्ख पुकारत।** जिनको दिन में कई-कई बार खाने को चाहिए, उनको एक बार भी पेट भर रोटी नहीं मिलती है। वे दुख-दुख पुकार रहे हैं। **घर माही नहिं अन्न नारिहू निर्दय याते।** घर में अन्न न होने से गृहिणी निर्दय हो गयी है। **भई महा जड़रूप करत मुख सो नहिं बातें।** वह जड़रूप हो गयी है, और मुख से बात भी नहीं कर रही है। **यह दशा देखि अक्खरत चित जीव थर-थरत रुकत मुख।** ऐसी दशा देख कर बहुत दुख होता है, चित्त में बहुत अखरता है और किसी से मांगने की इच्छा होती है, लेकिन मुख रुक जाता है कि कैसे मांगूं? अगला आदमी देगा कि नहीं। केवल अपने पेट के लिए आदमी नहीं मांगेगा। इतने घनचक्कर में पड़ा है, इसलिए वह बाल-बच्चों के लिए परेशान है। अपने पेट के लिए भी मांगना पड़ता है। कैसी दयनीय दशा है? गरीबों का चित्रण यहां भर्तृहरि जी ने कैसा सजीव किया है, सोचते ही बनता है।

छप्पय-9

गई भोग की चाह गयो गौरव गुमान सब।
मित्र गये सुर लोक अकेले रहे आप अब॥
उठत सु लकड़ी टेक तिमिर आँखिन में छायो।
शब्द सुनत नहिं कान वचन बोलत बहकायो॥
यह दशा वृद्ध तन की तऊ चकित होत मरिबो सुनत।
लखु विचित्र गति जगत की दुखहू को सुख सो लुनत॥

शरीर बिलकुल बूढ़ा हो गया और भोग की चाहना मंद हो गयी। इंद्रियां एकदम शिथिल हो गयी हैं। समाज में गौरव नहीं रहा। जवानी में आदमी काम-धंधा करता है तो गरमाहट रहती है। लोगों से संपर्क रहता है, और लोग पूछते भी हैं। बुढ़ापा में कोई भी नहीं पूछता। **मित्र गये सुर लोक अकेले रहे आप अब।** जो हमारे मित्र थे, हमारे सुख-दुख को जानते थे, लंगोटिया यार थे, वे भी मर गये। **अकेले रहे आप अब।** पुराने परिचितों में कोई रहा नहीं। अब केवल मैं अकेला रह गया हूं। अब मेरी बातों को कोई सुनने वाला नहीं है। **उठत सु लकड़ी टेक तिमिर आँखिन में छायो।** लकड़ी टेक कर उठता हूं, सीधे उठ नहीं पाता हूं।

उठने पर आंखों में अंधियारी छा जाती है। **शब्द सुनत नहिं कान वचन बोलत बहकायो।** अब हमारे कान शब्द नहीं सुनते हैं। नाती-पोतों से पूछता हूं, तो वे बहका देते हैं कि बाबा! यह बात नहीं है। बाबा! आप नहीं जान पाओगे।

यह दशा वृद्ध तन की तऊ चकित होत मरिबो सुनत। शरीर की यह दशा हो गयी, इतनी जर्जरता है, तो भी मरने का नाम सुन कर भयभीत हो जाता है, चकित हो जाता है। जगत की विचित्र गति है। यह मूढ़ मनुष्य दुख को सुख मानता है। बूढ़ा होकर, जर्जर होकर क्या सुख पाओगे। इतनी अवदशा में भी तू मरना नहीं चाहता है। आदमी को सोचना चाहिए कि आज तक जी कर मैंने क्या पाया? अभाव, असंतोष, राग, चिंता, उद्वेग ही तो पाया; और जीयो तो यही सब पाओगे। धनी से धनी आदमी अंदर से असंतोष के अलावा और कुछ नहीं पाते।

एक बार मुझे ऐसी सभा में जाने का अवसर पड़ा, जो उद्योगपतियों की थी। किसी के चेहरे पर रौनक नहीं थी। आदमी जब तक जीता है, अभाव, असंतोष, पीड़ा, टीस यही उसके चित्त में रहते हैं। अगर वह ज्ञानवान है, भक्तिवान है, वैराग्यवान है, साधना संपन्न है, तो निश्चित है वह दुखों से मुक्त होता है। तब उसको जीना-मरना बराबर लगता है। क्योंकि जो करना था वह कर लिया। जीने की इच्छा वहां समाप्त हो जाती है। वहां न मरने की इच्छा है न जीने की इच्छा। मुक्तरूप, कृतार्थता का अर्थ ही यही होता है, जब कुछ करना बाकी न हो, कुछ पाना बाकी न हो। जीने और मरने की इच्छा न हो तब कृतार्थता है।

छप्पय-10

बिन उद्यम बिन पाप पवन सर्पन को दीन्हो।
तैसे ही सब ठौर घास पशुवन को कीन्हो॥
जिनकी निर्मल बुद्धि तरन भव सागर समरथ।
तिनकी दूबर वृत्ति हरण गुण ज्ञान ग्रंथ गथ॥
विधि अविधि करी तैं अति अधिक याते नर पर घर फिरत।
निशि दिवस पचत तन मन नचत लचत रचत उरझत गिरत॥

भर्तृहरि जी विधाता को धिक्कारते हैं और कहते हैं कि तेरी भूलों को

मैं बता रहा हूं। ऐ विधाता! तूने भयंकर गलती की है, बहुत बड़ी गलती की है। **बिन उद्यम बिन पाप पवन सर्पन को दीन्हो।** तूने गलती तो बहुत की है, लेकिन खास गलती मैं कहता हूं। तूने बिना उद्यम के, बिना पाप के ही पवन आहार सांपों को दिया। यह भ्रम धारणा पुराकाल से है। यह भर्तृहरि जी के मन में भी था अथवा काव्यरस में पड़कर ऐसा कह दिया हो। लोगों में यह धारणा है कि सांप हवा पी कर जीते हैं। वे बिल के ऊपर निकल आते हैं और मुख को फैला देते हैं, जिससे हवा पेट में चली जाती है, बस हो गया काम। लेकिन यह बिलकुल भ्रम है। हवा पीकर नहीं जीते हैं किन्तु कीड़े-मकोड़े खाते हैं। उनका भी आहार है। लेकिन लोकधारणा अनुसार हवा पीने में न पाप है, न उद्यम है। किसी जीव को न तकलीफ देना है न कुछ प्रयत्न करना है। बैठे रहो बस सुरकते रहो हवा! अगर मनुष्य को ऐसा होता तो कितना बढ़िया होता।

तैसे ही सब ठौर घास पशुवन को कीन्हो। पशुओं के लिए कितना बढ़िया आहार है, जिधर जायें घास चर रहे हैं। न अमनिया करना है न बरतन खोजकर उसमें डालकर पकाना है।

जिनकी निर्मल बुद्धि तरन भव सागर समरथ। जिस मनुष्य की बुद्धि निर्मल है, और संसार-सागर को तरने में समर्थ है, उसकी वृत्ति बहुत दुर्बल है। उसका भोजन बड़ी कठिनाई से पैदा होता है। पैदा होने के बाद बहुत व्यायाम करना पड़ता है, तब खाने को मिलता है। केवल भोजन पकाने में ही बहुत मेहनत है। जब लोग भोजन पकाते हैं तो घंटों लगे रहते हैं। पैदा करने में तो महीनों-महीनों माथा कूटते रहो, तब खाने को मिलता है। कब इसमें गुण ज्ञान ग्रंथ आ सकता है। कब आदमी किताब पढ़े? कब आदमी ज्ञान-चर्चा करे।

विधि! अविधि करी तैं अति अधिक यातें नर पर घर फिरत। ऐ विधि! तूने अविधि कर डाली। नाम विधि है, और तूने किया अविधि! विधि का मतलब है—कानून, कायदा, नियम। तू तो नियम बनाने वाला है, विधाता है, और ऐसा खराब नियम बनाया। इतना जंगल कर देता कि फल ही फल होता और मनुष्य तोड़-तोड़ कर खाता रहता। लेकिन **निशि दिवस पचत तन मन नचत लचत रचत उरझत गिरत।** आदमी पेट की खातिर दूसरों के घरों में भटक रहा है। भिक्षा मांग रहा है, ताबेदारी

कर रहा है। रात-दिन भटकता है, मन में पचता है, दूसरे के आगे-पीछे नाचता है और गिरता-पड़ता है। यदि तुम्हारा नियम उत्तम होता तो ये सब करना न पड़ता।

छप्पय-11

विधि सों पूजे नाहिं पायँ प्रभु के सुखकारी।
प्रभु को धरों न ध्यान सकल भव दुख को हारी॥
खोले स्वर्ग कपाट धर्म हूँ करो न ऐसो।
कामिनि कुच के संग रंग भर रह्यो न तैसो॥
हरि हाय हाय! कीन्हों कहा पाय पदारथ नर जनम?।
जननी यौवन वन दहन को अग्नि रूप भये प्रकटहम॥

प्रभु के चरणों की मैंने पूजा नहीं की, जो सुख देने वाली है। प्रभु का ध्यान भी धारण नहीं किया, जो हमारे भव-दुख को काट सके। स्वर्ग का कपाट खोले, ऐसे मैंने शुभकर्म भी नहीं किये। संसार के भोग भी नहीं मिले। उनकी भी केवल आशा-आशा ही रही। हे विधाता! इस उत्तम मानव जीवन को पाकर हमने क्या किया? हम केवल माता के जवानी रूपी जंगल को जलाने वाले अग्नि रूप प्रकट हुए। **जननी यौवन वन दहन को अग्नि रूप भये प्रकट हम।** न योग किया, न भोग किया। कोई भी भोग स्थिर नहीं है। योग का फल स्थिर है, वह तो किया नहीं।

नीति में लिखा है–**जो व्यक्ति निश्चित को छोड़कर अनिश्चित को पकड़ता है, तो निश्चित को उसने स्वयं छोड़ दिया और अनिश्चित छुटा-छुटाया है।** योग का फल मोक्ष और भोग का फल है दुख, भवबंधन। भोग मनभर मिलते भी नहीं हैं। भोग ग्रहण से होता है, और ग्रहण में परतंत्रता है। योग त्याग से होता है और त्याग में स्वतंत्रता है। सभी मनुष्य और वस्तुएं हमारे अधीन रहें, इसमें परतंत्रता है। अपने माने गये शरीर में जवानी अपने अधीन नहीं रहती, देखते-देखते खिसक जाती है, पता नहीं चलता। इसलिए शौकीन जवानों की मूंछ में जब बाल पकने लगते हैं, तब वे उनको उखाड़ देते हैं। और जब कई बाल पक जाते हैं, तब काट-काट कर निकाल देते हैं, या खिजाब लगाते हैं। लेकिन-

कोटिन यतन करो यह तन की, अंत अवस्था धूरी।
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना।
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥

(बीजक, शब्द 72)

कबीर साहेब कहते हैं, ऐ अज्ञानी! बालू के घर में बैठकर जागता नहीं है, चेत नहीं रहा है। ग्रहण करने से भोग मिलता है जिसमें आदमी परतंत्र है, और त्याग करने से मोक्ष मिलता है, इसमें हर आदमी स्वतंत्र है। इसलिए मोक्ष का रास्ता पकड़ो, भोग का नहीं। क्योंकि ग्रहण में परतंत्रता है और त्याग में स्वतंत्रता है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
20 सितम्बर, 1995 ई०)

दूसरा प्रवचन

छप्पय-12

भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सब।
तप्यो नहीं तप मूढ़ अवस्था तपित भई सब॥
काल न कितहूँ जात वैस यह चली जात नित।
वृद्ध भई नहिं आश वृद्ध वय भई छाँड़ हित॥
अजहूँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज।
दुख दोष हरण मंगल करण श्री हरिहर के चरण भज॥[1]

भर्तृहरि जी महाराज कहते हैं—भोग तो हैं लेकिन **आयु यह भुगत गई सब।** दुनिया के भोग बने रहते हैं, लेकिन अपनी आयु क्षीण हो जाती है। एक दिन भोग करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। पांचों विषय सामने हैं लेकिन उनको भोगने की क्षमता आदमी में नहीं रह जाती। **तप्यो नहीं तप मूढ़ अवस्था तपित भई सब।** ऐ मूर्ख! तूने तप नहीं किया, किन्तु सारी अवस्थाएं तप गयीं। तप कल्याण के लिए होता है। प्रतिकूल अवस्था आने पर सह लेना तप है। लेकिन प्रतिकूलता आने पर हमने उसे नहीं सहा, अपितु राग-द्वेष में रात-दिन तपते रहे। सह ले तो वह तपस्या है, न सहे तो केवल ताप है। सारे संसार में स्वभावों की भिन्नता है। दूसरे के कुछ ऐसे व्यवहार होते हैं। वे कभी-कभी हमें अच्छे नहीं लगते। उनको सह लेना ही हमारी तपस्या होगी। हमें इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि हमारा व्यवहार दूसरे के लिए दुखद न हो। अपने मन को ऐसा रखें कि आई हुई प्रतिकूलता को सहें और जान-बूझकर किसी के लिए प्रतिकूलता उपस्थित न करें। अगर आदमी ऐसा आचरण बना ले तो उसका जीवन

---

1. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥12॥

मधु हो जायेगा, आनंदमय हो जायेगा। बिना अहंकार के विसर्जन किये, यह संभव नहीं है। आदमी जितना अहंकारी होता है, उतना असहनशील होता है, और दूसरे को सहाने की चेष्टा करता है। जान-बूझकर ऐसा व्यवहार करता है, जिससे दूसरों को कष्ट हो। स्वयं थोड़ा भी सहना नहीं चाहता है। यह रवैया इंसान को नीचे ले जाता है।

इंसान को ठंडी-गरमी सहना पड़ता है। आये दिन भूख-प्यास सहना पड़ता है। अपने मन के प्रतिकूल घटनाएं सहना पड़ता है। लेकिन तप से नहीं सहा, निर्विकार भाव से नहीं सहा, किन्तु विवश होकर सहा। तो वह कल्याण में सहायक न हुआ किन्तु जीवनभर जलता ही रहा।

काल न कितहूँ जात वैस यह चली जात नित। काल नहीं गया, आयु ही चली गयी, उम्र ही बीत गयी। काल को चाहते हैं कि मिट जाय, लेकिन काल तो पीछे लगा है और हमारी उम्र ही बीत गयी। **वृद्ध भई नहिं आश वृद्ध वय भई छाँड़ हित।** हमारी आशा बूढ़ी नहीं हुई, किन्तु शरीर बूढ़ा हो गया। आशा जीर्ण हो, क्षीण हो, तो शांति मिले, किन्तु शरीर क्षीण हो गया।

मन मरे न माया मरे, मरि मरि जात शरीर।
आशा तृष्णा न मरे, यों कथि कहैं कबीर॥

(कबीर साखी)

कबीर साहेब कहते हैं, मन, माया, आशा, तृष्णा नहीं मरतीं केवल शरीर मरता है। शरीर के मरने से कोई मंगल नहीं, किन्तु आशा, तृष्णा, वासना, मन-माया के मरने से मंगल है। शरीर जीर्ण होता जाय साथ ही मन भी जीर्ण होता जाय, और यदि शरीर के जीर्ण होने के पूर्व मन जीर्ण हो जाय तो सोने में सुगंध है। जो साधक अपनी जवानी में सारी कामनाओं को छोड़ देते हैं, वे कितने धन्य हैं। शरीर अभी युवा और बलवान है, लेकिन उनका मन निर्मल हो गया है, वासना क्षीण हो गयी है।

अजहूँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज। इसलिए ऐ असावधान मन! आज भी सावधान हो जा, और देह-गेह का मोह छोड़ दे। यह देह तेरी नहीं है और यह घर तेरा नहीं है। शरीर रोज पक रहा है। पकते-पकते यह चू पड़ेगा, और इस पृथ्वी में उसी प्रकार लीन हो जायेगा,

जैसे सागर में बूंद लीन हो जाती है। इसलिए जग जा। यहां तेरा कुछ भी नहीं है। तू अपने स्वरूप में स्थित हो। **दुख दोष हरण मंगल करण श्री हरिहर के चरण भज।** जो दुख-दोष को हरण करने वाले हैं और मंगल करने वाले हैं, वही श्री हरिहर हैं। इनके चरणों की वंदना कर। हरिहर सद्‌गुरु ही हैं, जो हमारे सारे विकारों को हरे, बोध दे, जो अपने संरक्षण में रखकर हमारा उद्धार करे, वह सद्‌गुरु हरिहर है। जो स्वयं निर्मल हैं वे हमें निर्मल कर सकते हैं। जो ज्ञान-वैराग्य संपन्न हैं, ऐसे सद्‌गुरु-संतों का आधार लेकर ही कल्याण होगा। बाहर हरिहर कहीं नहीं मिलेगा।

छप्पय-13

क्षमा क्षमा बिन कीन बिना संतोष तजे सुख।
सहे सीत तप घाम बिना तप पाय महा दुख॥
धर्‍यो विषय को ध्यान चन्द्रशेखर नहिं ध्यायों।
तज्यो सकल संसार प्यार जब उन बिसरायो॥
मुनि करत काज सोई किए फल दीसत विपरीत अति।
अब होत कहा चिंता किए अजहूँ कर हर चरणचित॥

भर्तृहरि जी शैव थे, उन्होंने बीच-बीच में शिव जी की उपासना में पंक्तियां कही हैं। **क्षमा क्षमा बिन किन बिना संतोष तजे सुख।** क्षमा मैंने की लेकिन बिना क्षमा के की। जब बल नहीं चला तब क्षमा की, वह क्षमा नहीं है।

सबल क्षमी निगर्व धनी, कोमल विद्यावंत।
भव में भूषण तीन हैं, औरों सबै अनंत॥

(कबीर साखी)

सद्‌गुरु कबीर साहेब कहते हैं कि सबल हो किंतु क्षमाशील हो; धनी हो किंतु गर्व न हो; और विद्वान हो किंतु कोमल, विनम्र हो—ये तीनों संसार के भूषण हैं। और तो बहुत हैं। क्षमा मैंने की लेकिन क्षमा की इच्छा से नहीं की, मजबूर होकर की। संतोष नहीं रहा, लेकिन सुख तजा। बिना संतोष के सुख तजा। क्योंकि सुख का कोई चांस नहीं रह गया। दांत टूट गये, चाम में सिकन आ गयी, शरीर शिथिल हो गया। भोग अब संभव

नहीं है। अब सुख का त्याग कर रहे हैं, लेकिन संतोष तो मन में नहीं है। मन होता है कि हम जवान होते तो सुख भोगते, तो अच्छा रहता। लेकिन मजबूर हैं, कुछ कर नहीं सकते।

सहे सीत तप घाम बिना तप पाय महा दुख। ठंडी सहे, गरमी सहे, घाम सहे, वर्षा सहे, सब सहे, लेकिन तप की दृष्टि से कुछ नहीं सहे। प्रसन्न होकर नहीं सहे किन्तु मजबूर होकर के सहे। **धर्‌यो विषय को ध्यान चन्द्रशेखर नहिं ध्यायों।** मैंने रात-दिन विषय का ध्यान किया, लेकिन चन्द्रशेखर का ध्यान नहीं किया। अर्द्धचन्द्र शिव जी अपने सिर पर रखते हैं। शिव जी लोह का चन्द्रमा बना कर अपने सिर की जटा में चिपकाये रहते हैं ऐसी बात नहीं है। यह एक कल्पित रूपक है। आत्मा ही शिव है। मांडूक्य उपनिषद् में बात आती है।

प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

जब प्रपंच का उपशमन हो जाता है, चित्त शांत हो जाता है, तब शिवत्व का उद्‌घाटन होता है। आत्मा जब निर्मल अवस्था में पहुंच जाय, वही शिव है। तो विषयों का ध्यान किया, किन्तु शिव का, आत्मा का ध्यान नहीं किया। विषयों का चिंतन किया, आत्मचिंतन नहीं किया।

तज्यो सकल संसार प्यार जब उन बिसरायो। हम तो चिपकना चाहे कि सब मेरे हैं, सब मेरे हैं। सबको अपना मानना चाहा, लेकिन उन सभी ने मुझे छोड़ दिया। तब मैंने संसार को छोड़ा। पत्नी भी विमुख। बहू बहुत कृपा करती है जो रोटी दे देती है।

एक सेवामुक्त अफसर ने कहा, बहू सुबह रोटी बनाकर रख देती है। बच्चे खाते हैं, स्कूल जाते हैं, और लड़का भी आफिस जाता है, इसलिए सुबह ही रोटी बनाना पड़ता है। वही रोटी पड़ी रहती है, मैं एक बजे खाता हूं। अगर मैं बहू से कहूं कि बेटी, दो रोटी मेरे लिए उसी समय सेंक दे, सब्जी वही रहे कोई हर्ज नहीं। तो वह मुझसे कुछ नहीं कहेगी, पति से कहेगी। और उसका पति, मेरा लड़का जब आफिस से आयेगा तब वह मेरी फजीहत करेगा। कैसा अद्‌भुत है संसार। जिन मां-बाप ने बच्चे को पाला-पोषा, प्यार दिया, उन मां-बाप को बेटे-बहू समय से दो गरम रोटी दे नहीं सकते। तो संसार ने जब प्यार छोड़ दिया तब मैंने संसार का त्याग

किया।

त्याग करन है सबन को, बचत न कोई दिखाय।
चाहे तजे दुख भोग के, चाहे प्रथम हटाय॥

(विशाल वचनामृत)

वीरता यह है कि पहले त्याग दो।

मुनि करत काज सोई किए, फल दीसत विपरीत अति। जो काम मुनि करते हैं, वही सब मैंने किया, लेकिन फल उलटा हुआ। साधक त्याग करते हैं, तप करते हैं, साधना करते हैं, वह सब मैंने किया, लेकिन फल बिलकुल उलटा। क्या साधु को ही मन मारना पड़ता है, गृहस्थ को मन नहीं मारना पड़ता है! जो विवाह न करे उसको कामवासना के लिए मन मारना पड़ता है और जो विवाह कर लेता है, उसको क्या काम-वासना के लिए मन नहीं मारना पड़ता है? उसकी तो तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि उसे बारम्बार मन रोकना पड़ता है। हरदम कहां तक भोग करता रहे। हरदम करते रहने की सुविधा ही नहीं है। और यदि ज्यादा भोग करेगा तो उसकी जल्दी मिट्टी पलीद हो जायेगी। इसी प्रकार बीड़ी-सिगरेट पीने वाले को बराबर बीड़ी के विषय में मन रोकना पड़ता है। कब तक मुंह में बीड़ी खोंसे रहे? जो बीड़ी नहीं पीता है, उसे बीड़ी के विषय में कभी मन रोकना ही नहीं पड़ता। आदत ही नहीं है। भोगों को भोगने वालों को ज्यादा मन रोकना पड़ता है। त्यागी को थोड़ा मन रोकना पड़ेगा। त्याग का अभ्यास हो जायेगा फिर परम विश्राम है। तपस्वी साधक लोग जो काम करते हैं, वही काम मैंने भी किया लेकिन फल बिलकुल उलटा हो गया।

अब होत कहा चिंता किए अजहूँ कर हर चरण चित। कहने वाला कहता है, अब चिंता करने से क्या होगा? अब तो सब कुछ गंवा दिये। लेकिन ठीक है, आज भी हरि के चरणों में चित कर, सद्गुरु के चरणों में मन लगा। **कहहिं कबीर जान दे बही, जब से चेते तब से सही।** कबीर साहेब कहते हैं, जो बीत गया उसको छोड़ो, सोचो मत। जब जाग गये, तभी सबेरा समझो।

दोहा-14

सेत चिकुर तन दशन बिन, बदन भये ज्यों कूप।

गात सबै शिथलित भये, तृष्णा तरुण स्वरूप॥

सेत चिकुर तन शरीर के सब बाल सफेद हो गये। 'सेत' सफेद 'चिकुर' बाल, 'तन' शरीर। **दशन बिन बदन भये ज्यों कूप।** दांत के बिना मुंह कुआं जैसा हो गया। दांत जब उखड़ जाते हैं, तब मुंह कुआं जैसा पोपला हो जाता है। **गात सबै शिथलित भये।** शरीर के सारे अंग शिथिल हो गये। अंत:करण में भी दृढ़त्व न रहा। संकल्प दृढ़ नहीं है तो बातें भूल जाती हैं। पैर इधर धरो तो उधर हो जाता है। हाथ से कुछ काम करना चाहो, तो उतनी सफलता नहीं होती। आंखों से तो दिखना बहुत पहले ही कम हो गया है। दूर की दृष्टि भी कम हो गयी।

तृष्णा तरुण स्वरूप। तृष्णा जवान है तो सब बेकार है। इसलिए तृष्णा क्षीण होना चाहिए। शरीर जैसे-जैसे क्षीण हो, वैसे-वैसे तृष्णा भी क्षीण हो।

शरीर जैसे पका आम है। पके आम पकते-पकते पक गये तो डाली से चू पड़ते हैं। हमारा शरीर पके साथ ही मन भी पके और मन संसार से चू पड़े। अहंकार-ममकार क्षीण करता चले। सबसे निस्पृह, आनंदमग्न, निर्द्वन्द्व हो जाय। इस संसार में हमारा एक कण भी नहीं है। न कोई हमारा है, न कुछ हमारा है, यह भाव पक्का भजन है। राम नाम भजन, सतनाम भजन, ओम भजन, सोहम् भजन सब भजनों से बड़ा भजन है यह मानना कि इस संसार में न हमारा एक कण है, न एक व्यक्ति है, कोई नहीं है। शरीर की रक्षा के लिए शुद्ध, सात्विक, सुपाच्य भोजन लें। शरीर यात्रा पूर्ण करना है। इस संसार से कोई भोग की इच्छा न रखे। न कुछ पाना रहा, न कुछ देखना रहा, न सुनना रहा, न किसी से मिलना-जुलना रहा। अपने को पाया, अपने को जाना, अपने को मिला, अब और क्या देखना है। परमानंद, परमतृप्ति, आत्यंतिक सुख, आनन्द की पराकाष्ठा निष्काम अवस्था है। शरीर धीरे-धीरे क्षीण हो रहा है। उससे तीव्र गति से हमारी तृष्णा क्षीण होना चाहिए। बहुत जल्दी स्वरूपस्थिति का काम कर लेना चाहिए।

दोहा-15

इक अम्बर के टूक को, निशि में ओढ़त चंद।
दिन में ओढ़त ताहि रवि, तू कत करत छछन्द॥

कवि कितना सुन्दर कहता है, **इक अम्बर के टूक को, निशि में ओढ़त चंद।** उसी आकाश के एक टुकड़े को रात में चन्द्रमा ओढ़ लेता है। **दिन में ओढ़त ताहि रवि,** दिन में उसी को सूर्य ओढ़ लेता है। **तू कत करत छछन्द।** तू क्या छछन्द कर रहा है? थोड़े में गुजर कर, बहुत वस्तुओं का संग्रह मत कर। यह कहने का एक तरीका है। चांद और सूरज बेजान हैं, और आकाश कोई चीज नहीं जिसे उन्होंने ओढ़ रखा है। बातों को समझाने के लिए युक्तियां कितनी मार्मिक होती हैं, और मन में वैराग्य भावना उत्पन्न करती हैं। चांद और सूरज इतने बड़े, इतने विशाल और आकाश के एक ही टुकड़े से बेचारे रात और दिन में गुजर करते हैं, और तुम छछन्द कर रहे हो, दिखावा कर रहे हो !

छप्पय-16

चाहे जब तक भुगै विषय पर अन्त भिन्न ह्वै।
नर तू क्यों ना तजै विषय दुख जानि खिन्न ह्वै॥
नर नहिं छोड़त जगत जगत ही छोड़ि देत तेहि।
लखि अवदशा अनेक एक नहिं जात बात कहि॥
जगत मोह माया विवश छुटत होत अति शूल मन।
प्रथम तजत नर ताहिं जब लहत परम पद शांति घन॥

चाहे जब तक विषयों को भोगो, अंत में छोड़ना है। यहां जितनी ममता बनाओ, अंत में बिछुड़ना है, यह पक्का है। प्यारे से प्यारे के वियोग के दिन को देखने के लिए कमर कसकर तैयार रहना चाहिए। मनुष्य की विशेषता यह है कि जो सामने हों उनके साथ सुन्दर बरताव करे। प्रेम, समता, स्नेह का बरताव करे, और जब जो छुटे उसमें थोड़ा भी मोह न करे। यह साधना की परिपक्वता और विशेषता होगी। मन की थोड़ी प्रतिकूलता पाकर खिन्न हो जाना, प्रेम न करना, सद्भाव न करना, अपने अहंकार में डूबे रहना और लोगों से स्नेह का व्यवहार न कर पाना; और अनुकूलता पाकर ऐसा चिपक जाना कि वह बिछुड़ने लगे तो हाय-

तौबा करने लगना; यह क्या साधना है? सबके प्रति प्यार, स्नेह, शुद्ध सद्भावना हो, लेकिन हमारा कोई भी कभी कहीं छुट जाये तो दुख न हो। क्योंकि यहां हमारा कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति अपनानी चाहिए। चाहे जब तक विषयों को भोगो, उनसे बिछुड़ना पक्का है।

नर तू क्यों न तजै विषय दुख जानि खिन्न ह्वै। आदमी संसार को नहीं छोड़ता है, संसार ही उसे छोड़ देता है। हम चाहते हैं कि और रहें; और काल उठा ले जाता है। इस पर मुझे सुषेण वैद्य वाली कथा याद आती है। जब हनुमान जी लंका जाते हैं, (वह रात का समय है) और सुषेण वैद्य से कहते हैं कि लक्ष्मण को बाण लगा है, वे बहुत पीड़ित हैं, तुम चलो। सुषेण कहते हैं—नहीं भई, मैं तो दुश्मन का वैद्य हूं, रावण का वैद्य हूं, मैं कैसे जाऊं। हनुमान जी कहते हैं, वैद्य के लिए न कोई मित्र, न कोई शत्रु। वैद्य तो सबकी चिकित्सा करता है। सुषेण ने कहा, मैं बिलकुल नहीं जा सकता हूं। तब हनुमान जी जमीन के नीचे हाथ डाले और उनका पूरा मकान उठाने लगे। सुषेण हां-हां-हां कहते रहे और हनुमान जी उन्हें मकान सहित लेकर उड़ गये ! कैसे कूदें? यदि कूदें तो मर जायें।

यह तो कथा है, काल्पनिक है, लेकिन बड़ी मनोरंजक है। ऐसे ही मौत आयेगी। आप बचने की चेष्टा करते रहो और वह प्राण खींचकर ले जायेगी। तो आदमी जगत को नहीं छोड़ना चाहता है, जगत ही उसको छोड़ देता है। वीरता यह है कि हम जगत को छोड़ दें और मौत का स्वागत करें। बोरिया-बिस्तर बांधकर हर समय तैयार रहें। जब मौत आये, उसका स्वागत है। मौत आने से हमारा कल्याण है। शारीरिक जीवन अच्छा जीवन नहीं है। यह कूड़ा-कचड़ा का जीवन है, द्वंद्व का जीवन है। शरीर-रहित जीवन निर्मल है। शरीर से रहित जीवन ही मेरा असली जीवन है। शरीर का जीवन क्षणिक है, और आत्मिक जीवन अनंत है। शारीरिक जीवन उपद्रवमय है, आत्मिक जीवन निर्मल है। इसलिए शरीर के विसर्जन का दिन हमारे लिए पर्व का दिन है, उत्सव का दिन है। साधक को यह समझौता करना चाहिए कि आखिर में जाना पड़ेगा। इसलिए मोह छोड़ देना समझदारी है, तो पहले से ही मोह छोड़ दो। मान लो तुम रहो यहां और सरक न पाओ, उठ न पाओ, बैठ न पाओ तब क्या सुख होगा? शरीर तो क्षीण होगा ही, इसे रोका नहीं जा सकता। इसलिए समझदारी का

बरताव करें।

लखि अवदशा अनेक एक नहिं जात बात कहि। जगत मोह माया विवश छुटत होत अति शूल मन। जब विवशतापूर्वक जगत की सब माया छूटती है, तब मोह के कारण पीड़ा होती है। **प्रथम तजत नर ताहिं जब लहत परमपद शांति घन।** जब आदमी स्वयं मोह को छोड़ देता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है, अखण्ड शांतिपद की प्राप्ति होती है।

छप्पय-17

तृष्णा मूल नशाय होय जब ज्ञान उदय मन।
भये विषय में लीन बढ़ै दिन पर दिन चौगुन॥
जैसे मुग्धा नारि कठिन कुच हाथ लगावत।
बढ़त काम मद अधिक अधिक तन में सरसावत॥
जरा जीर्ण ऐश्वर्य को त्यागत लागत दुक्ख अति।
तोहि तजबे को असमरथ वासव जो है वायुपति॥

तृष्णा मूल नशाय होय जब ज्ञान उदय मन। जब हृदय में ज्ञान उदय होता है तब तृष्णा जड़ मूल से नष्ट हो जाती है। तृष्णा ही संसार में भटकाने वाली है। महात्मा बुद्ध ने 'धम्मपदं' में कहा है—"ऐ गृहकारक! मैंने तेरे को देख लिया और कड़ियां मैंने खींच ली हैं। अब यह शरीर रूपी गृह फिर से नहीं बनेगा।" गृहकारक तृष्णा है, घर बनाने वाली तृष्णा है। मैंने कड़ियां खींच लीं। साधक देखता है, जो अंतिम स्थिति की बात है, वैराग्य की बात है। यह सारे संसार के साधकों की बात है।

दर्शन में अंतर होता है। वैराग्य की बात एक है। सूफी संतों ने कहा है—**संसार खाकदान है, राख की टोकरी है।** जिस संसार को बहुत आकर्षित दृष्टि से देख रहे हो, वह राख की एक टोकरी है। ऐसा जब मन में विवेक ज्ञान उदय होता है, तब भव में भटकाने वाली दशा जड़-मूल से नष्ट हो जाती है। इसका मतलब यह नहीं है कि एक बार ज्ञान हुआ और सब बंधन नष्ट हो गया। जीवनभर अभ्यास की जरूरत है। लगनपूर्वक अभ्यास करते-करते तृष्णा समाप्त हो जाती है। फिर भी सावधान रहना

पड़ता है कि तृष्णा फिर से उत्पन्न न हो जाय।

भये विषय में लीन बढ़ै दिन पर दिन चौगुन। जो रात-दिन विषय में लीन रहता है, उसकी तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है। किसी विषय में लीन हो, किसी मनुष्य में ममता करो, किसी पदार्थ में आसक्ति बनाओ, तो उसमें तृष्णा बढ़ती चली जायेगी। कोई आदमी युवती के संग रहे तो उसकी काम-वासना बढ़ेगी। इसमें तृष्णा थोड़े क्षीण होगी। भर्तृहरि जी कहते हैं—ऐ तृष्णा! जरा-जीर्ण ऐश्वर्य को त्यागने में लोगों को अत्यन्त दुख होता है। टूटी झोपड़ी है, चटाई भी सोने के लिए नहीं है, भोग की तो बात ही नहीं, किसी प्रकार पेट भर जाय तो वाह-वाह है। ऐसे लोग भी त्याग नहीं कर पाते हैं।

तोहि तजिबे को असमरथ वासव जो है वायुपति। भर्तृहरि जी कहते हैं—ऐ तृष्णे! तेरे को त्यागने में इन्द्र भी असमर्थ है। इन्द्र भी त्याग नहीं पाता है। इतना बलवान इंद्र है, लेकिन तेरे को त्याग नहीं पाता है। इन्द्र क्या त्याग पायेगा? संत त्यागेंगे, विरक्त त्यागेंगे, विवेकी त्यागेंगे, भक्त त्यागेंगे। यह तो कहने का एक तरीका मात्र है। इन्द्र बड़ा बलवान है, लेकिन वह भी तृष्णा नहीं त्याग पाता है।

छप्पय-18

अबल अंध श्रुति पुच्छ पैर से हीन श्वान जिमि।
बहत घाव से राध देह में किलबिलात कृमि॥
वृद्ध भूख से व्यथित गले हण्डी का घेरा।
अहो! विषय परचण्ड दण्ड ताहू पर फेरा॥
ऐसो दुखिया श्वान जो शुनि पीछे दौरो फिरत।
यह मरे हुए घट धारि को काम पुनः मारत गिरत॥

एक कुत्ता है जो निर्बल है, अंधा है, उसके कान कटे हैं और पूंछ कटी है, एक पैर भी टूटा है। उसके शरीर में घाव हो गये हैं। उनमें से मवाद बहता है और कीड़े किलबिलाते हैं। वह बूढ़ा है और भूख से पीड़ित है। किसी के घर में घुसा था और हंडी में मुंह डाला था और घर मालिक ने डंडा मारा था, हंडी फूट गयी थी, लेकिन हंडी का घेरा उसके गले में माला की तरह फंस गया था। **अहो! विषय परचण्ड दण्ड ताहू पर फेरा।** यह

विषय ऐसा प्रचण्ड है, ऐसे दुखी श्वान पर भी अपना डंडा घुमा रहा है। **ऐसो दुखिया श्वान जो शुनि पीछे दौरो फिरत।** ऐसा दुखी कुत्ता भी कुतिया के पीछे दौड़ा फिरता है। यह काम, मरे हुए को भी मारता है। इसलिए साधक को कुसंग से सतत सावधान रहना चाहिए। जहां कुसंग हो, जहां मन वासनाओं की तरफ उन्मुख हो, ऐसी संगत, ऐसी भूमिका, ऐसा साथ, ऐसा व्यवहार और वस्तु से हजारों कोस दूर रहना चाहिए। यह समझ लो, तुम्हारा चरित्र ही तुम्हारा परम धन है और कुछ नहीं। जब तक जीवन है तब तक खाने-पीने की चीजें मिल जायेंगी। तन ढकने के लिए कपड़े मिल जायेंगे। किन्तु जो सबसे दुर्लभ चीज है, वह सुसंग है। वैराग्यवान की संगत करो, उनकी शरण में अपना सिर दे दो और अपने मन के अहंकार को दूर कर अपना कल्याण करो।

जहां से कामवासना के संस्कार जगें, ऐसी कुसंगत से साधक को हजारों कोस दूर रहना चाहिए। क्योंकि साधक कुसंग में पड़कर ही पतित होते हैं। संगदोष में ही पतन होता है। नीमी ऋषि, नारद, श्रृंगी ऋषि आदि बड़े-बड़े कहलाने वाले, कहा जाता है कई हजार वर्ष तक तप किये किंतु कुसंग में पड़कर भ्रष्ट हो गये। कई हजार वर्ष तक तप किये यह तो अतिशयोक्ति है। लेकिन वे जीवन में सर्वाधिक तप किये। उनमें कुछ उन्माद था, अतः वे कुसंग में पड़ गये और संगदोष ने उन्हें चाट लिया। संगदोष में पड़कर समर्थ साधक भी नष्ट हो सकता है, किंतु संगदोष से रहित अच्छी संगत में रहकर निर्बल साधक भी सन्मार्ग में बना रह सकता है। अच्छी संगत में रह कर भी कोई मन में कुटिलता, कुचाल छिपा कर रखे, तो उसे अच्छी संगत का फल नहीं मिलेगा। इसीलिए श्री विशाल देव ने कहा है–

वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं वैराग।
संगतहूँ फल न मिले, बिन साँचा मन लाग॥
अपने मन को डारि के, वैरागवान में लीन।
कबहुँ न बाँधे ताहि को, जो बंधन से हीन॥

(विशाल वचनामृत)

वैराग्यवान संत-गुरु की संगत करे और अपने मन के अहंकार को अलग धर दे। वैराग्यवान गुरु-संत के मन में अपने मन को मिला दे। जैसे

वे कहें, वैसे चले, तब साधक का कल्याण होगा।

छप्पय-19

भीख अन्न इकबार लौन बिन खाय रहत हूँ।
फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष को छाँह गहत हूँ॥
घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।
राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत॥
इहि भाँति रहत चाहत न कछु तऊ विषय बाधा करत।
हरि हाय-हाय तेरी शरण आय पर्‌यों इनसो डरत॥[1]

मेरा आहार नीरस भिक्षा है। एक बार खाता हूं। शैय्या केवल जमीन है। परिवार के नाम पर केवल अपना शरीर है, और कोई नहीं है। शरीर पर बहुत पुराने कपड़े हैं। सैकड़ों टुकड़ों से जुड़ी हुई गुदड़ी है, किसी प्रकार से सिलकर ओढ़ लेता हूं। ऐसी स्थिति में भी विषयवासना नहीं निवृत्त होती।

भीख अन्न एक बार लौन बिन खाय रहत हूं। भिक्षा करके नमक के बिना एक बार कुछ खा लेता हूं। **फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष को छाँह गहत हूँ।** फटी गूदड़ी ओढ़ लेता हूं और वृक्ष की छाया में रह लेता हूँ। **घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।** जमीन पर घास-पात डाल कर सो जाता हूं। **राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत।** यह देह ही परिवार है, इसी को ढो रहा हूं। **इहि भाँति रहत चाहत न कछु तऊ विषय बाधा करत।** इस प्रकार रहता हूं, किसी से कुछ नहीं चाहता हूं। तब भी विषय वासनाएं मन में आ जाती हैं। **हरि हाय हाय तेरी शरण आय पर्‌यों इनसो डरत।** इनसे डरते हुए—हे भगवान! तेरी शरण में आया हूं। ऐसा भगवान कहीं नहीं मिलेगा जो पुकारने से मिले। भगवान, सद्‌गुरु-संत ही हैं। वे अपनी साधना में स्वयं ठहरे हैं। इनको छोड़ने वाला अभागा है। सद्‌गुरु, संत तथा स्वयं आत्मा की शरण में ही आदमी विषयवासनाओं को निवृत्त करके अपना कल्याण कर सकता है।

---

1. भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकबारं, शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था, हा हा तथाऽपि विषया न परित्यजन्ति ॥19॥

छप्पय-20

कुच आमिष की गाँठ कनक के कलश कहत छवि।
मुख हूँ कफ के धाम कहत शशि के समान कवि॥
झरत मूत्र अरु धातु भरी दुर्गन्ध ठौर सब।
ताको चंपक बेल कहत रस रेल ठेल दब॥
यह नारि निहारी निन्द तन बहके विषई बावरे।
याको बढ़ाय वाको विरद बोले बहुत उतावरे॥

कवियों ने स्त्रियों के अंगों का ऐसा वर्णन किया है कि उसको पढ़-सुनकर मनुष्य का शुद्ध मन भी भटक जाय। रामानन्द संप्रदाय के संत स्वामी भगवदाचार्य जी वैराग्यवान और विद्वान पुरुष थे। एक साधक ने उनको पत्र लिखा कि महाराज, मैं कॉलेज में पढ़ रहा हूं, साधना से रहना चाहता हूं। आप रास्ता बतावें। उन्होंने उत्तर दिया कि संस्कृत और उर्दू साहित्य न पढ़ना। ये बुद्धि भ्रष्ट करने वाले हैं।

जिसको कनक का कलश कहते हैं, वह स्तन मांस का लोथड़ा है। जिसको चन्द्रमा के समान कहते हैं, वह मुंह थूक-खंखार का घर है। जिसको चंपक-बेला कहते हैं, वहां से पेशाब और धातु झरती है और हरदम दुर्गन्ध से भरा रहता है। शरीर जो गंदगी का घर है, ये पागल विषयी कवि लोग उसकी विरदावली गाने लगे और बड़े उतावले होकर उसका वर्णन करने लगे। इसीलिए संतों ने इसका खण्डन करने के लिए, नारियों की देह में घृणा उत्पन्न की है। नारियों को विषयी लोगों ने खिलौना बनाया। तो संतों ने कहा-क्या नारियों में आसक्त हो, ये टट्टी-पेशाब का घर हैं। इसमें नारियां नाखुश हो जाती हैं, लेकिन नाखुश होना नहीं चाहिए। संतों ने तो नारियों की रक्षा की है। वास्तव में नारियों का पूर्ण आदर विरक्त संत ही करता है। क्योंकि वह नारी मात्र को मां मानता है। पुरुष पतिंगे बनकर जलते हैं और नारियों को कष्ट देते हैं। उससे मन को हटाने के लिए संतों ने नारी-देह की सच्चाई बतायी है।

दोहा-21

जरत पतंगी अज्ञवश, मीन मांस के लोभ।
जानि बूझि हम विषय सों, विस्मय कर यह मोह ॥

अज्ञानवश पतिंगे दीपक की ज्योति में जलते हैं और मछली चारे के लोभ से बंसी में फंसती है। लेकिन हम तो जान-बूझकर विषयों में जलते हैं। यह आश्चर्यजनक मोह है। मनुष्य समझदार है, और कामभोग में पड़ा है। एक बार पड़े, दो बार पड़े, देख लिये, जान लिये। जब-जब उसमें पड़े हो तब-तब मलिनता, खिन्नता, असंतोष ही मिला है। गृहस्थों को भी चाहिए कि उसमें न पड़ें। संतान हो गयी, बस हो गया, ब्रह्मचारी हो जाओ। विरक्त तो विरक्त है ही।

दोहा-22

भूमि शयन वल्कल वसन, फल भोजन जल पान।
धन मद माते नरन को, कौन सहत अहमान ॥

भूमि पर सो जाना और पेड़ की छाल का वस्त्र बनाकर पहन लेना, फल का भोजन कर लेना, नदियों का पानी पी लेना अच्छा; लेकिन धन से उन्मत्त लोगों का अहंकार सहना अच्छा नहीं है।

छप्पय-23

भये जगत में धन्य धीर जिन जगत रच्यो है।
काहू धार्‌यो शीश अजों वह नाहिं लच्यो है॥
काहू दीन्हो दान जीत काहू वश कीन्हों।
भुवन चतुर्दश भोग कियो काहू यश लीन्हों॥
इमि अधिक एक सो एक भे तुम हो किन में तुच्छवित।
दस बीस नगर के नृपति ह्वै यह मद को ज्वर तोहि कित॥

भर्तृहरि जी स्वयं राजा थे। विरक्त हुए तो रजवाड़ों के अहंकार से उनको बड़ी घृणा हुई। वे कहते हैं कि जगत के लोग दुख भोगते हैं, जिन्होंने जगत को ही रच डाला, ब्रह्मा भी एक मनुष्य थे, संसार में आये और पूरे संसार को उन्होंने बना डाला। संसार में आये तो संसार को कैसे बना डाला? इसी से ही पता चल जाता है कि यह रूपक मात्र है। संसार में ऐसे भी लोग होते हैं, जो संसार को रच डालते हैं। जैसे लोग कहते हैं-

स्वतंत्र भारत जवाहर लाल की देन है, जवाहरलाल का भारत। जबकि भारत तो सदा से है। जवाहर लाल ने तपस्या की, बहुत सारे नेताओं ने तपस्या की। जवाहरलाल को प्रधानमंत्री बनने का चांस पड़ा, और अपनी सूझबूझ के अनुसार उन्होंने देश की सेवा की। इसी प्रकार जगत रचना की बात है। जगत में काफी कुछ काम करने वाले हुए कि वे पूरे जगत में गूंज गये। अतः वे जगत की रचना करने वाले कहे गये।

काहू धार्‌यो शीश अजों वह नाहिं लच्यो है। ऐसे भी हुए हैं जो पृथ्वी को अपने शीश पर धर लिए। पृथ्वी के भार सिर पर धरे हैं, वे शेष जी हैं। ब्रह्मा ने तो जगत बना डाला और शेष जी ने अपने सिर पर उसे रख लिया। ऐसे-ऐसे वीर हुए हैं। ये दोनों ही काल्पनिक हैं। लेकिन बातों को समझाने के लिए ऐसी बात कहते हैं। बलि ने इस पृथ्वी को दान में दे दिया। कोई अपने बाहुबल से जीत कर पूरी पृथ्वी पर चक्रवर्ती सम्राट हो गया और चौदहों भुवन का राज्य किया, यश प्राप्त किया। इस प्रकार संसार में एक से एक हुए हैं। उनमें से तुम कौन हो? ऐ रजवाड़ो, तुम दस-बीस नगर के राजा हो गये और तुमको इतना अहंकार का बुखार चढ़ा हुआ है? बड़े-बड़े हुए और वे नहीं रह गये, उनके नामलेवा नहीं रह गये। तो तुम्हारे में क्या दम है? ऐसा तो देखते-देखते हो जाता है।

भारत आजाद होने के पूर्व मैंने रजवाड़ों और जमींदारों को देखा। उनके पीछे पीकदान लिए खड़े उनके खिदमतगारों को देखा। भारत स्वतंत्र होने के बाद उनकी दशा देखी। जब एक रियासतदार के निमंत्रण पर उनके यहां पहुंचा तो उनका खिदमतगार नहीं दिखा। मैंने कहा, वह कहां गया है। उन्होंने कहा, खेत में गया है। जो पीकदान लेकर हमेशा पीछे खड़ा रहता था, वह खेत में गया था। उनके बिस्तर की चद्दर बड़ी गंदी थी। उन्हें दिखाई भी कम देता था। भवन विशाल था, क्योंकि रियासतदार थे। वे बेचारे स्वयं टटोलते-टटोलते उठे और स्वागत में अंदर से दूध लाये, शक्कर लाये। अनेक ऐसे को देखा भारत आजाद होने के पूर्व और पीछे। खुदाई में जगह-जगह भिट्ट मिलते हैं। वे किला के अवशेष हैं। यह पता नहीं चलता कि वहां कौन राजा था। अब उनका क्या रखा है?

छप्पय-24

तुम पृथ्वी पति भूप भरे अभिमान विराजत।
हम पाई गुरु गेह बुद्धि बल ताके गाजत॥
तुम धन सो विख्यात सुकवि गावत कछु पावत।
हम यश सो विख्यात रहत निशि द्योस पढ़ावत॥
तुम हमहिं बीच अंतर बड़ो देखो सोच विचार चित।
येते पर मुख फेरिहो तो मोको एकांत हित॥

इसे चाहे कल्पना में भर्तृहरि जी ने लिखा हो। क्योंकि कवि ज्यादातर कल्पना में लिखता है, और एक सत्य का उद्‌घाटन करता है। कभी-कभी चांस पड़ जाता है, घटना घट जाती है, अगर घटना घटी तो भर्तृहरि जी किसी राजा के यहां साधु रूप में गये होंगे। देखे कि उसमें अकड़बाजी है, तब उन्होंने कहा–

तुम पृथ्वी पति भूप भरे अभिमान विराजत। तुम पृथ्वीपति हो और अभिमान में डूबे हो। **हम पाई गुरु गेह बुद्धि बल ताके गाजत।** हमने भी गुरु का घर पाया है। गुरु का समाज पाया है, और गुरु-ज्ञान के बल से मैं भी गाज रहा हूं। **तुम धन सो विख्यात सुकवि गावत कछु पावत।** तुम धन से विख्यात हो, और कवि लोग आते हैं कुछ गाते हैं, तुम्हारी प्रशंसा करते हैं और तुम उन्हें कुछ देते हो। **हम यश सो विख्यात रहत निशि द्योस पढ़ावत।** हम भी अपने गुरु-ज्ञान के सुयश से विख्यात हैं। हम मुमुक्षुओं को रात-दिन आत्मज्ञान की विद्या पढ़ाते हैं। **तुम हमहिं बीच अंतर बड़ो देखो सोच विचार चित।** तुम अपने चित्त में सोचो, विचारो और देखो, हमारे-तुम्हारे में बहुत अंतर है। तुम माया के मालिक हो, हम ज्ञान के मालिक हैं। **येते पर मुख फेरिहो तो मोको एकांत हित।** इतने पर भी तुम विमुख होते हो, तो मैं एकांत जा रहा हूं। तुम्हारी हमें कोई जरूरत नहीं।

छप्पय-25

क्षणहूँ छाड़ी नाहिं भोग भुगती वह भूपनि।
कुलटा सो यह भूमि लाभ मानत महीप मनि॥

ताहू के इक अंग के सु अंगहि को पावत।
राखत हैं करि कष्ट दिवस निशि चहुँदिश धावत॥
अपनी ओर कि होत यह यातें पचि पचि रचि रहे।
पछितैबो को जग विषय जड़ उलटे सुख गनि रहे॥

क्षणहूँ छाड़ी नाहिं भोग भुगती वह भूपनि। ये भूप लोग, राजा लोग भोगों को एक क्षण भी छोड़ना नहीं चाहते। रात-दिन भोग में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं। **कुलटा सो यह भूमि लाभ मानत महीप मनि।** यह जमीन कुलटा के समान है। कुलटा उस स्त्री को कहते हैं जो आज एक पति बनाये और कल दूसरा, परसों तीसरा। उसी प्रकार यह जमीन, यह पृथ्वी है। अनेक स्वामी बनाती है और किसी की नहीं रहती है। **ये वसुधा काहू की न भई।**

कहा जाता है, एक महात्मा के पास एक युवती आई और उसने कहा मुझसे शादी कर लो। महात्मा ने कहा, तेरी क्या उम्र है। उसने कहा, मैं अनादि काल की हूं। महात्मा ने कहा, आज तक तेरी शादी क्यों नहीं हुई? उसने कहा, जो मुझे चाहता है, उसको मैं नहीं चाहती हूं और जिसको मैं चाहती हूं, वह मुझे नहीं चाहता, इसलिए शादी नहीं हुई। महात्मा ने कहा, मैं भी तुझे नहीं चाहता हूं। इसका अर्थ यही है कि माया सदा कुआंरी है।

ताहू के इक अंग के सु अंगहि को पावत। राखत हैं करि कष्ट दिवस निशि चहुँदिश धावत। इस पृथ्वी में थोड़ा-सा अंश एक राजा दबाये बैठा है। उसमें से छोटा-सा अंश तालुकेदार पा गया है। बड़े कष्ट से उसको रख रहे हैं। उसके लिए रात-दिन दौड़ रहे हैं। **अपनी ओर कि होत यह यातें पचि पचि रचि रहे।** इतनी जमीन मेरी रहे, इतना भूखण्ड मेरा रहे, इसके लिए पच-पच कर मर रहे हैं। **पछितैबो को जग विषय जड़ उलटे सुख गनि रहे।** संसार के विषय तो पश्चाताप करने योग्य हैं, लेकिन मूर्ख उसमें सुख मानते हैं। संसार के ऐश्वर्य में उन्मत्त लोगों को धिक्कारते हुए भर्तृहरि जी कहते हैं कि जिसमें तुम चिपकते हो, जिसमें अहंता-ममता करते हो, जिसको लेकर तुम्हें बड़ा घमण्ड है, वह कुछ नहीं है। वह आजकल में खो जायेगा। **एक दिन जाय लंगोटी झाड़ बंदा।** जिस पर तुम्हारा अपना स्वत्व है, अधिकार है, जो तुम्हारा अपना है, वह आत्मअस्तित्व है। इसलिए साधक को चाहिए कि संसार के सारे मोह को

त्यागकर अपने आत्माराम में विश्राम करे। आजकल में ऐसा समय आयेगा ही। यदि एक्सीडेण्ट से शरीर छुटेगा तो एकदम तुरंत खत्म हो जायेगा, अथवा अधमरा होकर धीरे-धीरे छुटेगा। बिस्तर पर छुटेगा तो धीरे-धीरे नस-नाड़ियां सिमटेंगी और भूलते-भूलते सब कुछ भूल जायेगा। **जहाँ के तहाँ रहि जइहैं, तन पिंजड़ा न अइहैं काम पंछी उड़ि जइहैं।** यहां तुम्हारा कुछ नहीं है। तुम्हारा केवल तुम हो। अपने को पाओ। अपने के लिए तुम बहुत हो। हम अपने को समझ जायें, अपने को पा लें, अपने में समाहित हो जायें तो धन्य हो जायें।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

21 सितम्बर, 1995 ई०)

तीसरा प्रवचन

छप्पय-26

यह मृतका को पिण्ड रहत जल माहिं निरन्तर।
सोऊ सब की नाहिं तनक सों ताहू में डर॥
करत हजारन अंग भूप तब भोग करत पित।
मिटत आपनी प्यास दान को होत कहा चित॥
ऐसे दरिद्र दुख सों भरे तिनहूँ सो जो चहत धन।
धिक्कार जन्म वा अधम को सदा सर्वदा लीन मन॥

यह मृतका को पिण्ड रहत जल माहिं निरन्तर। यह भूमण्डल मिट्टी का एक लौंदा है। यह सदैव जल में रहता है। पृथ्वी के बहुत हिस्से पर जल है और जितना हिस्सा जल से अलग है, वह भी सबकी नहीं है। तनिक-सा हिस्सा कहीं मिलता है, और उसमें भी डर लगा रहता है कि कहीं छिन न जाय। **करत हजारन अंग भूप तब भोग करत पित।** इस जमीन के हजारों अंग करके राजा लोग बांट-बांट कर छीन-छीनकर अपना राज्य कायम करते हैं, और उसका भोग करते हैं। **मिटत आपनी प्यास दान को होत कहा चित्त।** राजाओं की भूख नहीं मिटती है, तब दान करने का मन इनके चित्त में कहां होगा? **ऐसे दरिद्र दुख सों भरे तिनहूँ सो जो चहत धन।** ये राजे-महाराजे अत्यंत दरिद्र हैं, और दुख से भरे हैं। इनको स्वयं नहीं अंटता है। इनसे जो धन चाहता है। **धिक्कार जनम वा अधम को सदा सर्वदा लीन मन।** ऐसे रजवाड़ों से जो धन चाहता है, उसको धिक्कार है। वह सदा-सर्वदा अपने मन के कुविचार में लीन है।

यह भूमण्डल छोटा है। उसमें भी बहुत हिस्से में पानी भरा है। बहुत हिस्से में पर्वत है, और भी ऊबड़-खाबड़ है। थोड़ा-सा हिस्सा है, जो

उपजाऊ है और काम का है। उसमें भी हजारों रजवाड़ों ने छीन–छीन कर, काट–काट कर अपना आधिपत्य किया है। उसमें भी सबको डर लगा रहता है कि कब हमारा कितना क्षेत्र छिन न जाय। ये सब रजवाड़े दरिद्र हैं, दुख से भरे हैं। ये स्वयं संतुष्ट नहीं हैं। अतएव इन दरिद्रों से जो धन चाहता है, उसको धिक्कार है। जहां तृष्णा है, वहां दरिद्रता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि दरिद्र कौन? जो असंतुष्ट है। कृपण कौन है? जो जितेन्द्रिय नहीं है। ईश्वर कौन है? जो विषय–वासनाओं से ऊपर है। और जो विषयों में आसक्त है, वह गुलाम है।[1]

दोहा–27

नट भट विट गायन नहीं, नहिं वादिन के मांहि।
कौन भांति भूपति मिलन, तरुणी भी हम नाहिं॥

वैराग्यवान कहते हैं कि इन रजवाड़ों से मेरी मुलाकात कैसे हो सकती है। अगर मैं नट होता तो इन रजवाड़ों से मिल सकता। तमाशा दिखाने के लिए पहुंचूं तो रजवाड़े मिल जायेंगे। यदि भाट होऊं और इनका गुण गाऊं तो रजवाड़े मिल सकते हैं। विदूषक होऊं तो मनोरंजन के बहाने रजवाड़ों से मिल सकते हैं। यदि गायक होऊं तो रजवाड़े मिल सकते हैं। वाद–विवाद करने की भी मेरी आदत नहीं है। वाद–विवाद करने का यदि ढंग हो तो भी रजवाड़े मिल जायें। मैं तरुणी भी नहीं हूं जो राजा से मिल सकूं। मैं साधु हूं। साधु की आवश्यकता राजा को नहीं होती।

दोहा–28

विद्या दुख नाशक हती, फेरि विषय सुख दीन।
जात रसातल को चली, नृपन के मति हीन॥

पहले विद्या दुख का नाश करने वाली होती थी। विद्या का अर्थ ही है अविद्या का मिट जाना। योग दर्शन में कहा है–

---

1. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्ट कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥भागवत 11/19/44॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

शरीर अनित्य, अशुचि, दुखपूर्ण और अनात्म है। उसे नित्य, रमणीय, सुखप्रद तथा अपना स्वरूप मानना अविद्या है, अज्ञान है। और शरीर जैसा है अनित्य, अशुचि, दुखपूर्ण तथा अनात्म उसे उसी तरह मानना विद्या है, ज्ञान है।

जब मन में पूर्ण विद्या का उदय हो जाता है, तब देहाभिमान पूर्णतया नष्ट हो जाता है और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस स्थिति में सारे दुखों का नाश हो जाता है। तो पहले विद्या दुख का नाश करने वाली थी। आगे चलकर धनार्जन-बुद्धि को विद्या कहा जाने लगा। इस विद्या के पढ़ने-पढ़ाने का मतलब है पैसा कमाना और इन्द्रियों के भोगों की सामग्री इकट्ठा करना। लेकिन अब तो विद्या ऐसी हो गयी है, कि वह रसातल को जा रही है। भोग तक ही नहीं, विनाश की तरफ जा रही है। इन राजाओं की बुद्धि भ्रष्ट है, जो विद्या का उद्धार नहीं कर रहे हैं। भर्तृहरि जी ने यह शताब्दियों पूर्व कहा था। आज भी वही रोना रोया जा रहा है।

दोहा-29

ऐसो हूँ जग में भये, मुण्ड माल शिव कीन।
धन लोभी नर नवत लखि, तुम को मद ज्वर दीन॥

संसार में ऐसे लोग भी हो गये, जिनके मुण्डों की माला शिव जी ने धारण किया। कहा जाता है, शिव जी की पत्नी जब मर जाती थीं, तब वे उनका सिर काटकर उसे माला में पिरो लेते थे। शिव तो सदा रहते थे, लेकिन उनकी पत्नी मरती रहती थीं। यह काल्पनिक कथन है, लेकिन अर्थ यह है कि शिव जैसे महान पुरुष, जिसके मुण्डों की माला पहन लें, ऐसे प्रभावशाली लोग हो चुके हैं। तुम रजवाड़े किस खेत की मूली हो। धन के लोभी तुम्हारे सामने सिर झुकाते हैं, और तुमको अहंकार का बुखार लग जाता है कि हम बहुत बड़े हैं ! तुम बड़े क्या हो?

छप्पय-30

तुम अवनी के ईश ईश हमहूँ वाणी के।
तुम हो रण में धीर वीर गाढ़े अति जी के॥

त्यों ही विद्या वाद करत हमहूँ नहिं हारे।
प्रतिपक्षी के मान मारि अपने विस्तारे॥
धन लोभी सेवत तुम्हें हमको शिव श्रोता भले।
तुम को न हमारी चाह तो हमहूँ ह्याँ से उठ चले॥

रजवाड़ों को फटकारते हुए भर्तृहरि जी कहते हैं कि तुम पृथ्वी के ईश्वर हो। जमीन का थोड़ा-सा टुकड़ा पा लिए हो और उसका ईश्वर बने बैठो हो। **तुम अवनी के ईश ईश हमहूँ वाणी के।** तुम पृथ्वी के ईश्वर हो तो हम वाणी के ईश्वर हैं, हम ज्ञान दाता हैं। **तुम हो रण में धीर वीर गाढ़े अति जी के।** तुम रण में वीर हो, धीरवान हो, अपने जी के गाढ़े हो, मजबूत हो और लड़ाई में पिछड़ते नहीं हो। **त्यों ही विद्या वाद करत हमहूँ नहिं हारे। प्रतिपक्षी के मान मारि अपने विस्तारे।** हम भी विद्या-वाद करने में नहीं हारते हैं, और प्रतिपक्षी के मान को मार कर अपनी विद्या का विस्तार करते हैं। इसलिए हम भी वीर हैं। **धन लोभी सेवत तुम्हें हमको शिव श्रोता भले।** धन के लोभी तुम्हारी सेवा करते हैं, और शिव के श्रोता हमारी सेवा करते हैं। जो कल्याण चाहते हैं, वे पवित्रात्मा, मुमुक्षु हमारी सेवा करते हैं। **तुमको न हमारी चाह तो हमहूँ ह्याँ से उठ चले।** अगर तुम मुझे नहीं चाहते हो, तो मैं भी यहां से जा रहा हूँ। इस प्रकार भर्तृहरि जी रजवाड़ों को फटकारते हैं। यह बहुत ऊंची बात तो नहीं है। वैराग्यवान को चुप रहने की जरूरत है, कोई क्या कहता है, वह जाने। इसलिए वैराग्यवान को विद्या-विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

भर्तृहरि जी के इस पद में वैराग्य है, जो रजोवृत्ति संबलित है। तुम रण में वीर हो, तो हम विवाद करने में वीर हैं। तुम अपने दुश्मन को पछाड़ते हो, तो हम अपने प्रतिपक्षी को पछाड़ते हैं। तुम राज्य का विस्तार करते हो, तो हम विद्या का विस्तार करते हैं। तुमसे हम कम नहीं, ज्यादा हैं। धन के लोभी तुम्हारी सेवा करते हैं और हमारी सेवा करने वाले शिव-श्रोता हैं। जो कल्याण चाहते हैं, मुमुक्षु हैं वे हमारी सेवा करते हैं। इसलिए हम तुमसे श्रेष्ठ हैं, तुम घमण्ड मत करो।

छप्पय-31

जब हौं समझौं नेक तबै सर्वज्ञ भयो हौं।
जैसे गज मदमत्त अन्धता छाय गयो हौ॥
जब सत्संगत पाय कछुक हौं समझन लाग्यों।
तबहिं भयों अति मूढ़ गर्व गुण को सब भाग्यो॥
ज्वर चढ़त-चढ़त अति ताप ज्यों उतरत शीतल होय तन।
त्यों मन को मद उतरि गौ लियो शील संतोष मन॥

जब मैं थोड़ा समझा, तब अपने को सर्वज्ञ मान लिया। अल्पज्ञानी अहंकारी होता है। जब मद चढ़ता है तब हाथी उन्मादी हो जाता है, वैसे मैं उन्मादी हो गया। **जब सत्संगत पाय कछुक हौं समझन लाग्यों।** सत्संग पाकर जब मैं कुछ समझने लगा, **तबहिं भयों अति मूढ़ गर्व गुण को सब भाग्यो।** तब मैंने समझा कि मैं बड़ा मूढ़ हूं। अभी मैं बहुत कम जानता हूं। अपने जीवन में जो गुण है, उसका भी अहंकार भाग गया। **ज्वर चढ़त चढ़त अति ताप ज्यों उतरत शीतल होय तन।** जब बुखार चढ़ने लगता है, तब शरीर में ताप बढ़ने लगता है। जितना बुखार चढ़ता है उतना ताप बढ़ता है। आदमी का ज्ञान जितना बढ़ता है, उतना वह अहंकारी होता जाता है। वहां ज्ञान नहीं, अज्ञान रहता है, जानकारी का प्रमाद रहता है। लेकिन जब बुखार उतर जाता है, तब शरीर शीतल हो जाता है। जितना बुखार उतरता गया, उतना शीतल होता गया। इसी प्रकार हमारा अहंकार घटता गया और मैं शीतल होता गया। **त्यों मन को मद उतरि गौ लियो शील संतोष मन।** जब हमारे मन का मद उतर गया, तब मन में शील और संतोष आ गये।

दोहा-32

रमण काल यौवन गयो, थक्यो भ्रमत संसार।
देहुँ गंग तट शेष वय, शिव शिव जपत बिसार॥

मेरी जवानी भोग में बीत गयी। प्रौढ़ अवस्था संसार में भटकते-भटकते बीत गयी। परिवार की रक्षा और दुनियादारी की चिंता में जीवन बीत गया। अब जीवन का थोड़ा समय है; भर्तृहरि जी कहते हैं कि उसे गंगा के किनारे बैठकर शिव-शिव जपकर बिता देना है।

जीवन का जितना हिस्सा अवशेष है, उसे साधु–संगत में बैठ कर अपने आपको समझे और बंधनों को समझे तथा बंधनों को काटे और अपना उद्धार करे। स्वयं स्वरूप जीव ही शिव है। जहां अपना कुछ भी साथ नहीं है वहां किसका मोह किया जाय। इस संसार में किसी वस्तु का मोह करना अपने आप को धोखे में डालना है। मोक्ष ऐसा देवता है जो सब कुछ त्याग देने के बाद मिलता है। उसके पास नंगे जाओ, तब वह मिलेगा। कुछ लेकर जाओगे तो नहीं मिलेगा। क्योंकि सबकी अहंता–ममता के विसर्जन के बाद ही असंगता आती है।

दोहा–33

गयो मान यौवन सुधन, भिक्षक जात निराश।
अब तो मोको उचित यह, श्री गंगा तट वास॥

जवानी चली गयी, सम्मान चला गया, हाथ में धन भी नहीं है। भिक्षु भी दरवाजे पर आता है, उसको कुछ दे नहीं मिलता। अब तो यही उचित है कि गंगा के किनारे चलें और भजन करें। बहुत खो दिये अपने को हासा–जोशी में पड़कर; लेकिन अवशेष समय खोवें न, भजन में लगावें।

दोहा–34

तू ही रीझत क्यों नहीं, कहा रिझावत और।
तेरे ही आनन्द से, चिंतामणि सब ठौर॥

वैराग्यवान कहते हैं कि तू अपने आप में क्यों नहीं मस्त हो जाता, क्यों दूसरे को रिझा रहा है? दूसरे को खुश करने के चक्कर में क्यों पड़ा है? दूसरा कहां खुश रहता है। स्वयं खुश रह, स्वयं प्रसन्न रह, और प्रसन्नता तब आयेगी, जब मन का पाप मिटेगा। यह पापी मन कभी खुश नहीं हो सकता। दूसरे ने ऐसा व्यवहार कर दिया, जिससे मुझे नाखुशी हो गयी, यह कहना घोर अज्ञान है। दूसरे के किसी प्रकार के व्यवहार करने से अगर हम असंतुष्ट हैं तो हम पशु हैं। पशु को आदमी जिधर हांकता है, उधर पशु चलता है, लेकिन आदमी स्वयं स्वतंत्र होकर चलता है। किसी के व्यवहार से हम नाखुश हो गये तो पशु हैं।

किसी ने दुर्व्यवहार कर ही दिया और उससे हम दुखी हो गये तो हम

पशु हैं। पशु बनकर ही दुखी हुआ जाता है। लेकिन पशु भी ऐसे व्यवहार से दुखी नहीं होता है। दुखी तो हम अपने पाप के कारण होते हैं। हमारा अहंकार, हमारी आसक्ति, हमारी कामनाएं हमें जलाती हैं। हमें थोड़ी-थोड़ी बातों में इनके कारण ही ठेस लगती है। थोड़ी-थोड़ी बातों में हम क्षुब्ध हो जाते हैं। वैराग्यवान कहते हैं कि तुम दूसरे को क्यों रिझा रहे हो? दूसरे को खुश करने के चक्कर में क्यों हो? अपना खुश रहो, स्वयं प्रसन्न रहो बस। जितना मन का पाप मिटेगा उतनी प्रसन्नता रहेगी। जब मन बिलकुल निष्पाप हो जायेगा, तब मन पूरा प्रसन्न हो जायेगा। तुम्हें दुख देने वाले तुम खुद हो। यह पक्का समझ लो कि तुम्हें कोई दुख नहीं दे सकता है। तुम्हीं खुद को दुख देते हो। **तेरे ही आनन्द से चिंतामणि सब ठौर।** जब तेरा चित्त शांत होगा तब सब समय चिंतामणि है। जहां जाओ वहां चिंतामणि है। मन की तृप्ति, मन का संतोष चिंतामणि है।

छप्पय-35

बहुत भोग को संग तहाँ इन रोगन को डर।
धनहूँ को डर भूप अग्नि अरु त्यों ही तस्कर॥
सेवा में भय स्वामि समर में शत्रुन को भय।
कुलहू में भय नारि देह को काल करत क्षय॥
अभिमान डरत अपमान सो गुन डरपत सुनि खल सबद।
सब गिरत परत भय सो भरे अभय एक वैराग्य पद॥

आदमी जितना भोगी होगा उतना रोगी होगा, यह पक्का है। धन अधिक बढ़ेगा तो राजा का डर होगा। इन्कमटैक्स विभाग वाले आज ही नहीं हैं, सदा से हैं, नाम कुछ रहा हो। आज तो थोड़ा कानून-वानून पेश करके तब सरकार धन लेती है। पहले तो राजा बलात ले लेते थे। आग और चोर का डर लगा ही रहता था।[1]

---

1. भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।
मानं दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥35॥

सेवा में भय स्वामि, समर में शत्रुन को भय। सेवा में स्वामी का भय लगा रहता है। स्वामी खुश है कि नहीं। युद्ध में शत्रुओं का भय लगा रहता है। **कुलहू में भय नारि देह को काल करत क्षय।** कुल-परिवार में स्त्री का भय है। स्त्री के पैर कहीं ऊंचे-नीचे हो गये, तो बड़ी बदनामी होगी। जवानी को बुढ़ापा घेरे हुए है। जवान लोग, जिनकी अभी मूछें ठीक से नहीं आई हैं, अगर वे बूढ़ों को देखकर मुस्कराते हैं कि देखो, ये बूढ़े लोग, पके-पके बाल वाले हैं तो वे सब भी एक दिन बूढ़े हो जायेंगे। कबीर साहेब ने कहा है—

पात झरंता देखि के, हंसती कुपलियां।
हम चाले तुम चालिहो, धीरी बापलियां॥ कबीर साखी॥

पतझड़ देखकर कोमल पत्ते हंसने लगे। अरे! ये पीले-पीले कड़े-कड़े हैं, इसलिए झड़ रहे हैं। तब पीले पत्तों ने कहा, ऐ पगले! हम चले, लेकिन यह दशा तुम्हारी भी होगी। इसलिए जवानों को अहंकार नहीं करना चाहिए। क्योंकि थोड़े वर्षों में ये जवान भी बूढ़े होंगे। शरीर को काल क्षीण कर रहा है।

अभिमान डरत अपमान सो गुन डरपत सुनि खल सबद। अभिमानी, अहंकारी आदमी को अपमान का डर रहता है। अभिमानी आदमी जहां जाता है, सोचता है कि हमारा अपमान न हो जाय। हम नीचे-पीछे न बैठाये जायें। हमारी पूजा पीछे न हो। महंतों के बीच में जाओ तब यह रोग देखने में ज्यादा आता है। पहली बार जब मैं महंतों के बीच गया तो वहां जो संकट और नरक देखा कि हद्द था। दाहिने कौन बैठेगा? बांये कौन बैठेगा? आगे कौन बैठेगा? पीछे कौन बैठेगा? भोजन के समय किसका पाटला एक सूत ऊंचा है? भोजन की थाली किसकी पहले आई? भोजन की थाली एक सेकेण्ड के पहले जिसके सामने जाय, वह बड़ा है, और एक सेकेण्ड पीछे आई वह छोटा है। यह बात नहीं कि सब महंत ऐसे होते हैं। निर्मान महंत भी होते हैं। महंत हैं लेकिन विनम्रता से आगे जमीन में ही बैठ जाते हैं और सेवा करने लगते हैं। तो अभिमानी आदमी को अपमान का डर लगा रहता है।

गुन डरपत सुनि खल सबद। सद्‌गुणियों की निंदा दुष्ट लोग करते रहते हैं। और अगर मौन हैं तो बुद्धू हैं। अगर अंग सुगठित नहीं हैं तो

कहते हैं महाभद्दा है। सुन्दर है तो कहते हैं कामी है। सुन्दर होना कामी का लक्षण थोड़े है। काम तो मन का विकार है। तो सद्‌गुणों में दुर्गुण खोजने वाले दुष्ट लोग होते हैं। इस प्रकार दुनिया के सारे वैभव दुख से भरे हैं। इसलिए '**भुवि नृणाम्**' संसार में मनुष्य के लिए **वैराग्यमेवाभयम्** वैराग्य ही निर्भय पद है। मोह नहीं, राग नहीं तो क्या भय। इसलिए वैराग्य करो, जिससे निर्भयता मिले।

कुण्डलिया-36

जैसे पंकज पत्र पर जल चंचल ढरि जात।
त्यों ही चंचल प्राण हू तजि जइहैं निज गात॥
तजि जइहैं निज गात बात यह नीके जानत।
तौ हू छाँड़ि विवेक नृपन की सेवा ठानत॥
निज गुण करत बखान निलजता उघरी ऐसे।
भूल गयो सत ज्ञान मूढ़ अज्ञानी जैसे॥

'पंकज' जो पंक, कीचड़ से पैदा हो वह पकंज है। कीचड़ से कमल, कुमुदनी, मोथा, थोथा अनेक वनस्पतियां पैदा होती हैं, और ये सब पंकज हैं, लेकिन पंकज रूढ़ है कमल के लिए।

पूरी दुनिया में तीन प्रकार के शब्द होते हैं। रूढ़, योग और योगरूढ़। रूढ़ शब्द ही प्राकृतिक है। योग शब्द विद्वता से बनाया जाता है। सरल भाषा पहले होती है। संस्कृत भाषा यानी शुद्ध भाषा, विद्वान लोग गढ़ते हैं। गांव वाले फिर उस संस्कृत भाषा का अपभ्रंश कर देते हैं सरल बना लेते हैं। क्योंकि सरलता में कहने-सुनने में प्राकृत भाषा ही सरल होती है। रूढ़ शब्द जैसे—लोटा, घोड़ा, घर आदि। रूढ़ नाम रख लिया और कहना-सुनना शुरू कर दिया। योग शब्द—दो शब्दों के जोड़ से बनता है, जैसे—हिमालय, हिम+आलय—'हिम' बर्फ और 'आलय' घर। जहां बर्फ हो, हर समय बर्फ हो, वह हिमालय है। यह योग शब्द है। योगरूढ़ शब्द, दो शब्दों के योग से बनता है लेकिन किसी एक वस्तु विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है। उसे योगरूढ़ शब्द कहते हैं; जैसे—पंकज। पंकज योगरूढ़ शब्द है। यह योग भी है और रूढ़ भी है। पंक+ज, पंक = कीचड़, ज = उत्पन्न,

जो कीचड़ से उत्पन्न हो वह पंकज। वह कमल ही नहीं, कुमुदनी, मोथा, थोथा आदि अनेक घास हैं। ताल में देखो, पानी में कितनी घासें होती हैं। वह सब पंकज हैं, लेकिन पंकज शब्द रूढ़ हो गया कमल में। इसलिए 'पंकज' योगरूढ़ शब्द है।

जैसे पंकज पत्र पर जल चंचल ढरि जात। जैसे कमल के पत्ते पर पानी बूंद बनकर ढरक जाता है। **त्यों ही चंचल प्राण हू तजि जइहैं निज गात।** वैसे ही हमारा माना हुआ प्राण अत्यंत चंचल है। शरीर को अचानक छोड़कर चला जायेगा। यह बात हम अच्छी तरह से जानते हैं, तब भी हमारा अविवेक बना हुआ है। हम विवेक-विचार का काम न कर राजाओं की सेवा करते हैं। इन मंत्रियों के पीछे घूमते हैं। उस समय राजा कहे जाते थे, आज मंत्री कहना चाहिए। राजा तब तक राजा कहा जाता था, जब तक किसी द्वारा परास्त न कर दिया जाय। आजकल मंत्री परास्त होते रहते हैं। आज जो गद्दी पर है वह चार दिन के बाद सड़क पर है। आज जिसके लिए जहां जाता है जुलूस निकलता है किंतु कल जब वही आता है तो उसे कोई पूछने वाला नहीं रहता है। इतने नश्वर संसार में आकर हम विवेक, विचार और साधना नहीं करते हैं। और राजा तथा मंत्रियों के पीछे हीं-हीं करते घूमते रहते हैं। इतना ही नहीं, हम अपने गुणों का बखान करते हैं।

दोहा-37

नृपति सैन सम्पति सचिव, सुत कलत्र परिवार।
करत सबन को स्वप्न सम, नमों काल करतार॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ काल करतार! राजा को, संपत्ति को, सचिव को, मंत्रियों को, पुत्र को, पत्नी को, परिवार को तू सब को थोड़े समय में स्वप्न बना देता है। थोड़े दिनों में क्या रह जाता है? बड़े-बड़े रजवाड़े थोड़े दिनों में जमीन में चले गये, और उनका कुछ नहीं रहा। आज से तीस वर्ष पूर्व के मंत्रीगण आज कहां हैं? भारत आजाद होने के बाद सत्ता में आये हुए चाहे वह प्रधानमंत्री हों, चाहे गृहमंत्री, चाहे मुख्यमंत्री हों और चाहे रेलमंत्री हों, कहां हैं? कितने मंत्रियों के परिवार भी नहीं रह गये। कितने

लोगों का तो कुछ भी नहीं रहा, सब शून्य हो गया। भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ काल करतार! तू सबको पीसकर रख देता है। सबका अहंकार चूर्ण कर देता है। कुछ भी नहीं रह जाता है।

छप्पय-38

जो जन्में हम संग उतो सब स्वर्ग सिधारे।
जो खेले हम संग काल तिनहू कह मारे॥
हमहूँ जरजर देह निकट ही दीसत मरिबो।
जैसे सरिता तीर वृक्ष को तुच्छ उखारिबो॥
अजहूँ नहिं छाड़त मोह मन उमग उमग उरझो रहत।
ऐसे अचेत के संग सों न्याय जगत दुख को सहत॥

जो हमारे साथ जन्म लिए थे, उनमें से अधिकतम लोग मर गये। जिनके साथ हमने खेला था, वे भी काल के गाल में समा गये। हमारा शरीर भी निरंतर जर्जर हो रहा है। मौत बिलकुल निकट आ रही है। जैसे नदी के किनारे लगे हुए वृक्ष के तट को नदी हरदम काटती है और वृक्ष की जड़ खोखली होती जाती है। वृक्ष अब गिरा, अब गिरा हो रहा है, वैसे मेरे शरीर की दशा है। ऐसी भयंकर स्थिति में भी यह मन मोह नहीं छोड़ रहा है। उमग-उमग कर उलझता रहता है। अभी भी इसको संसार में सुख की आशा बनी हुई है।

शरीर बूढ़ा हो चला, लेकिन आदमी अभी भी उमग-उमग कर चल रहा है। अभी वह बच्चों को सम्हाल रहा है। अपने को नहीं सम्हाल रहा है। अरे! परिवार को सम्हालते-सम्हालते तुम पिस गये हो, अब अपने को सम्हालो। एक पचहत्तर वर्ष का बूढ़ा आश्रम में आया। दूसरे दिन चलने लगा। मैंने कहा, रहो कुछ दिन, भजन-साधना करो। उसने कहा, महाराज! घर की जिम्मेदारी अभी मेरे ऊपर है। मैंने कहा, कितने बच्चे हैं। उन्होंने कहा—चार, दो व्यापारी हैं और दो सर्विस करते हैं। खेती और बाल-बच्चे मुझे सम्हालना पड़ता है। मैंने कहा, कब तक सम्हालेंगे, वह चुप रहा। पूछा, क्या उम्र है? बताया पचहत्तर। मनुष्य सबको सम्हाल रहा है, केवल अपने को नहीं सम्हाल रहा है। सरकार भी साठ साल में सेवामुक्त कर देती है, और कहती है, जाओ, घर बैठो, खाने-पीने का

प्रबन्ध हमारी ओर से। लेकिन ये गृहस्थ बूढ़े लोग और कई महंत लोग भी सेवामुक्त होना नहीं चाहते हैं। पूरा दल–बादल माथे पर थामे कब्र तक पहुंचना चाहते हैं। अपना उद्धार करना नहीं चाहते।

छप्पय–39

बहुत रहत जेहि धाम तहाँ एकहिं को राखत।
एक रहत जेहि ठौर तहाँ बहुतक अभिलाषत॥
फेरि एक हू नाहिं करी तहँ राज दुराजी।
काली के संग काल रची चौपड़ की बाजी॥
दिन रात उभय पासा लिये यहि विधि सो क्रीड़ा करत।
सब प्राणी सोवत मोह में मिलत चलत बिछुड़त मरत॥

जिस घर में बहुत लोग थे, घर भरा हुआ था। काल ने वहां एक व्यक्ति को छोड़ा और सब को मार डाला। जिसके घर में एक था, थोड़े दिनों में उसका घर प्राणियों से भर गया। **फेरि एक हूँ नाहिं करि तहँ राज दुराजी।** जिसका घर भरा था, उसमें एक व्यक्ति नहीं रह गया, राज–दुराजी हो गयी। **काली के संग काल रची चौपड़ की बाजी।** चौपड़ खेल में दो होते हैं इसलिए भर्तृहरि जी ने इसमें काल के साथ काली की कल्पना कर ली। मानो काल की पत्नी काली और काल दोनों चौपड़ खेल रहे हैं। कौन–से पासे हैं? रात–दिन के पासे फेंके जा रहे हैं। ये प्राणी सब गोटी बनाये गये हैं। यह क्रीड़ा रात–दिन चल रही है। सब प्राणी मोह में सो रहे हैं। मिलते हैं, बिछुड़ते हैं, चलते हैं, जन्मते हैं, मरते हैं। देखते–देखते यहां से उठते चले जा रहे हैं।

दोहा–40

तप तीरथ तरुणी रमण, विद्या बहुत प्रसंग।
कहा कहा मन रुचि करे, पायो तन क्षण भंग॥

तप करना अच्छा है, तीर्थों में घूमना अच्छा है, तरुणी स्त्री के साथ रहना अच्छा है, विद्या पढ़ना अच्छा है, और बहुत बातें अच्छी हैं, इस प्रकार मन सबमें चलता है, लेकिन शरीर तो क्षणभंगुर है। इसमें क्या–क्या

किया जाय? अब विचार करना है, कौन काम करने से दुख की निवृत्ति और कल्याण होगा? तरुणी या तरुण के साथ स्त्री या पुरुष रहे तो काम-उद्वेग में उलझते रहेंगे। यह अपने को धोखा देना है। और विद्या के चक्कर में पड़े तो विद्या का कोई ठिकाना नहीं है कि कितनी है। नीति वचन है–

बहुत विद्याएं हैं और शास्त्र भी बहुत हैं और समय थोड़ा है। इसलिए जैसे हंस नीर-क्षीर विवेक करके नीर को छोड़कर क्षीर ले लेता है वैसे हमें कल्याण-काम कर लेना चाहिए। बहुत विद्या, बहुत तप, तीर्थ आदि में भटकना नहीं चाहिए।

दोहा-41

ब्रह्म ध्यान धर गंग तट, बैठूंगो तज संग।
कबधों वह दिन होय गो, हिरन खुजावत अंग॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, मैं ब्रह्मज्ञान, आत्मध्यान, आत्मलीनता में गंगा तट पर बैठा रहूंगा, और सारा संग छोड़ दूंगा। हिरण आयेंगे, मुझे निर्जीव पदार्थ समझकर मेरे शरीर से अपना अंग खुजलायेंगे और मैं ध्यान में लीन रहूंगा। ऐसा दिन कब आयेगा? इसमें अतिशयोक्ति है, लेकिन अतिशयोक्ति में सार है। ऐसी निर्द्वन्द्वता, ऐसी शांति मिलेगी, जहां पर सारे मोह का क्षय होगा और मैं अपने आप में मस्त रहूंगा।

दोहा-42

ज्योत्सना सों शित थल तहाँ, मुदित आँसु युत नैन।
कब रटिहौं तट गंग के, शिव-शिव आरत बैन॥

गंगा का शीतल तट होगा, चांदनी रात होगी, वहां अश्रुपूरित नेत्रों और प्रसन्न मन से करुणाविगलित होकर कब शिव-शिव जपूंगा। भर्तृहरि जी शैव थे, इसलिए वे जगह-जगह अपनी उपासना का पुट देते हैं। वस्तुतः आत्मा ही शिव है और आत्मलीनता ही शिव-भजन है।

दोहा-43

देव ईश सुरसरि सहित, दिशा वसन गिरि गेह।
सुहृत्काल वट कामिनी, व्रत अदैन्य सुख येह॥

देव ईश, देवता, ईश्वर हमारा आत्मा है। हमारा देव आत्मदेव है। भर्तृहरि जी शिव उपासक थे। इसलिए शिव उनका देव है, और हम भी शिव को मानते हैं। यह आत्मा ही शिव है। **प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** प्रपंच के उपशमन होने पर शिवत्व का उद्घाटन होता है। जब मन शांत हो गया, तो प्रपंच शांत हो गया। प्रपंच नाम विस्तार। मन शांत हो गया, बस शिव है। आत्मा ही देवता है।

सुरसरि सहित गंगा का किनारा हो यह स्वाभाविक है। गंगा के किनारे तो कबीर आश्रम ही बना है। **दिशा वसन,** दिशाएं ही वस्त्र हैं। अर्थात नंगा रहना। नंगा होना ठीक नहीं है। कपड़ा पहने, काम भर का हलका कपड़ा पहने। जिनका दिशा ही वसन होता है, वे लोग जंगल में ही रहें, तब ठीक है। जो नंगे लोग बस्ती में घूमते रहते हैं, वे अच्छा नहीं करते हैं। **गिरि गेह,** पर्वत की गुफा ही घर है। वहां खाने–पीने की अड़चन होगी। अब जंगल में फल–फूल पहले जैसे नहीं रहे। कहीं जाकर गुफा में बैठो तब पता लगेगा। क्योंकि पेट में ज्वाला तो बढ़ेगी ही तब उतर कर तराई में मांगोगे। और ये जो गंगा के किनारे आश्रम की गुफा है, उसमें बैठोगे तो गरम भोजन पहुंच जायेगा, खा लोगे मस्त, फिर कोई प्रपंच नहीं। **सुहृत काल,** काल ही मित्र है, समय ही हमारा मित्र है। **वट कामिनी,** वट वृक्ष ही पत्नी है। केवल वटवृक्ष ही हो ऐसी बात नहीं, इसलिए वट वृक्ष की जरूरत नहीं। आश्रम के प्रांगण में कोई भी पेड़ लगा ले और उसके नीचे बैठो। **व्रत अदैन्य,** हमारा व्रत दीन न होना, कामना न करना, **सुख येह,** यही सुख है। अपना मन स्वच्छ होना चाहिए। यही सच्चा एवं परम सुख है।

छप्पय–44

देखो गंगा गिरी स्वर्ग से शिव मस्तक पर।
ताहू से गिरि जात हिमालय पर्वत ऊपर॥
पर्वत से भू माहि तहूँ से सिन्धु समानी।
पग पग अवगति होत रहत जो अस अज्ञानी॥
ताते अहं न कीजिये अहं बड़ो दुख देत खल।
दीन हीन निर्मान युत ज्ञान पंथ में रमन भल॥

देखो गंगा गिरी स्वर्ग से शिव मस्तक पर। किसी को अहंकार नहीं करना चाहिए। देखो! गंगा को अहंकार हुआ, जैसा कि रूपक है। गंगा को अहंकार हुआ कि जब मैं चलूंगी, तो पृथ्वी को फोड़ कर उसे नष्ट कर दूंगी। कहा जाता है जब वामन भगवान तीनों लोकों अर्थात भूमण्डल को नापे थे तो उनके पैर चले थे। ब्रह्मा जी ने उनके पैर धोकर चरणोदक अपने कमण्डलु में रख लिया था। वही गंगा जल है। भगीरथ तप करके चाहे कि गंगा को छोड़ दें। ब्रह्मा जी ने छोड़ने की बात सोची तो गंगा ने कहा, मुझे कौन सम्हालेगा? मैं धरती पर गिरूंगी और उसे फोड़ कर पाताल में चली जाऊंगी। तब उन्होंने शिव जी से आराधना की। शिव जी ने कहा ठीक है, गंगा आ जायें मेरी जटा में। तो ब्रह्मा जी ने अपने कमण्डलु में से चार बूंद जल गिरा दिया। गंगाजी हरहराते हुए आईं कि मैं शिव के सहित पृथ्वी को फोड़ कर पाताल में चली जाऊंगी। परंतु वे शिव जी की जटा में फंसी तो फंसी रह गयीं। निकलने का ठिकाना नहीं। क्या करें? वे निकल नहीं पा रही थीं। भगीरथ ने शिव जी से कहा, महाराज! गंगा को छोड़िये। शिव जी ने कहा, इनको बड़ा अहंकार है, रहने दीजिए इसी में।

भगीरथ के बहुत प्रार्थना करने पर शिव जी ने एक बाल झाड़ दिया। तो हा-हा-हा-हा करते हुए गंगा निकलीं और हिमालय पर्वत पर गिरीं और ऋषिकेश की तरफ जमीन पर आईं। फिर गिरते-गिरते प्रयागराज में आ गयीं, और बनारस, पटना होते हुए बंगाल की खाड़ी के समुद्र में समा गयीं। बस खो गयीं। जो अहंकार करता है, उसकी यही दशा होती है।

देखो, गंगा शिव-मस्तक पर गिरीं, वहां से हिमालय पर्वत पर गिरीं और पर्वत से जमीन पर आ गयीं, वहां से गिरते-गिरते समुद्र में समा गयीं। उसी प्रकार **पग-पग अवगति होत रहत जो अस अज्ञानी।** अज्ञानी आदमी की गंगा की तरह पग-पग पर अवगति होती है। **ताते अहं न कीजिये, अहं बड़ो दुख देत खल। अति दीन हीन निर्मान युत ज्ञान पंथ में रमन भल।** अहंकार न करो, अहंकार से केवल दुख ही मिलता है। इसलिए विनम्र होकर ज्ञान पंथ रमो।

छप्पय–45

नद रूपी यह आश मनोरथ पूरि रह्यो जल।
तृष्णा तरल तरंग राग है ग्राह महा बल॥
नाना तर्क विहंग संग धीरज तरु तोरत।
भ्रमर भयानक मोह सबन को गहि गहि बोरत॥
नित बहत रहत चित भूमि में चिंता तट अति ही विकट।
करि गये पार योगी पुरुष उन पायो सुख तेहि निकट॥[1]

आशा नाम की नदी है, उसमें इच्छाओं का जल भरा है। तृष्णा की बड़ी–बड़ी तरंगें हैं। राग का ग्राह है और द्वेष के विषैले पक्षी हैं। यह आशा नाम की नदी धैर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ने में लगी है। इसमें मोह का भयंकर भंवर है। भंवर में पड़े हुए प्राणी–पदार्थ उसी में घूम–घूम कर डूबते रहते हैं। मोह के भंवर में पड़ा हुआ आदमी उसी में डूबता है। यह मोह–भंवर सबको पकड़–पकड़कर उसी में बोरता रहता है।

नित बहत रहत चित भूमि में चिंता तट अति ही विकट। चित्त भूमि में यह आशा नाम की नदी निरंतर बह रही है। चित्त में हरदम आशा, वासना, तृष्णा, कामना, ललक बनी रहती है। **कोई कछु देय भलो करि माने।** गोस्वामी जी ने कहा कि हमें कोई कुछ दे और भला माने, यह बात चित्त से नहीं जा रही है। यह कितनी दीनता है साधक की। साधक के चित्त में यह हो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। सम्मान–अपमान में समबुद्धि। वैराग्य जितना बढ़ेगा सब ठीक हो जायेगा। अखण्ड वैराग्य उदय होने पर कोई कमजोरी नहीं रहती। तो आशा नाम की नदी चित्त भूमि में बहती रहती है, और उसकी तट है चिंता। जो भोगों की आशा करेगा वह चिंता में रहेगा ही।

करि गये पार योगी पुरुष, उन पायो सुख तेहि निकट। कोई योगी पुरुष ही इनसे पार हो जाते हैं। जो अपने मन को समेट लेता है, वह

---

1. आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरंगाकुला,
राग्रग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥45॥

आशा नाम की नदी से पार हो जाता है। हमें चाहिए कि अपने मन को विषय-वासनाओं से समेटें। आशा, वासना, तृष्णा, कामना ये ही हमारे चित्त के कीड़े हैं, जो चाल-चाल कर हमें जर्जरीभूत करते हैं। निष्काम हो जाने पर ही परम सुख है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

22 सितम्बर, 1995 ई०)

चौथा प्रवचन

दोहा-46

ऐसो मैं संसार में, सुन्यों न देख्यों धीर।
विषया हथिनी संग लग्यो, मन गज बांधे वीर॥

भर्तृहरि जी कहते हैं कि संसार में मैंने ऐसे व्यक्ति को न देखा न सुना, जो विषय-हथिनी के पीछे लगे हुए मन-हाथी को पकड़ कर बांध ले। इससे यह लगता है कि उनके अनुसार इस मन को कोई नहीं बांध सकता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। विद्वान लोग कभी-कभी काव्य की लहर में पड़ जाते हैं और अतिशयोक्तियां कर देते हैं। भर्तृहरि जी ने स्वयं अपने मन को बांध लिया था। वे पहले अत्यन्त कामी थे, लेकिन महा वैराग्यवान हो गये। ऐसे अनेक होते रहते हैं। जो चाहेगा वह अपने मन को वश में कर लेगा।

कुण्डलिया-47

छोटे दिन लागत तिन्हें जिनके बहु विधि भोग।
बीत जात विलसत हंसत करत सुरत संयोग॥
करत सुरत संयोग तनक सो लागत तिनको।
जो हैं सेवक दीन निपट दीरघ है उनको॥
हम बैठे गिरि शृंग अंग याही ते मोटे।
सदा एकरस द्योस लागत हैं बड़े न छोटे॥

भर्तृहरि जी कहते हैं जिनके बहुत प्रकार के भोग हैं उनको दिन बहुत छोटे लगते हैं। विहंसते-हंसते, सुरति-संयोग करते, भोगों में रमते उनके दिन बीत जाते हैं। लेकिन जो सेवक हैं, मजदूर हैं, दीन हैं, गरीब हैं,

उनको दिन बहुत लम्बे लगते हैं। उनको समय काटे नहीं कटता। इसका अनुभव कोई भी कर सकता है। जब मजदूर खेत में काम करते हैं, तो प्राय: शाम के समय वे पश्चिम देखते रहते हैं। उनको लगता है सूरज रुका हुआ है। मालिक को लगता है कि सूरज भाग रहा है। सूरज जैसा है वैसा है। यह अपनी-अपनी भावना है। जिनके पास चीजें कम हैं, परेशानियां हैं, तकलीफें हैं, उनको दिन बहुत लंबा लगता है।

हम बैठे गिरि शृंग अंग याही ते मोटे। वैराग्यवान कहते हैं कि हम तो पर्वत-शिखर पर बैठे हैं इसलिए हमारे अंग मोटे हैं। **सदा एकरस द्योस लगत हैं बड़े न छोटे।** हमारे लिए दिन एक समान लगते हैं। न छोटे हैं न बड़े हैं। कितने लोग कहते हैं हमारा दिन नहीं कटता है। दिन कटे कैसे? वे अपने जीवन में कोई गतिविधि नहीं रखते हैं। यह जीवन कर्ममय है। इसको कर्म से जोड़कर रखना चाहिए। जीवन गतिशील रखना चाहिए। आलसी नहीं। आलसी जीवन मन और तन दोनों से गंदा हो जाता है। गतिशील आदमी का मन ठीक रहता है और शरीर भी स्वस्थ रहता है।

छप्पय-48

विद्या रहित कलंक ताहि चित में नहिं धारी।
धन उपजायो नाहिं सदा संगी सुखकारी॥
मात-पिता की सेवा सुश्रूषा नेक न कीन्हीं।
मृग नैनी नव नारि अंग भर कबहुँ न लीन्हीं॥
यों ही व्यतीत कीन्हों समय ताकत डोल्यो काक ज्यों।
ले भज्यो टूक पर हाथ ते चंचल चोर चलाक ज्यों॥

मैंने निष्कलंक विद्या का अर्जन नहीं किया। अगर विद्वान हो जाता तो कहीं कुछ रोजी-रोटी का अच्छा प्रबंध होता। इससे बहुज्ञता बढ़ती। धन नहीं पैदा कर पाया कि जीवन में सुख-सुविधाएं बढ़ें। मैंने माता-पिता की सेवा भी नहीं की, जो कि गृहस्थ का कर्तव्य है। जबकि माता-पिता बच्चों को कितना कष्ट सह कर पालते-पोषते और बड़ा बनाते हैं। इसलिए बच्चों को उनकी सेवा करना चाहिए; वह भी नहीं कर पाया। दुनिया के भोगों के लिए मन तो ललचाता रहा, लेकिन वह भी नहीं मिला। मेरी दशा तो वैसी

हुई जैसे एक कौआ की होती है। जो इधर-उधर ताकता है, देखता है, और किसी बच्चे के हाथ का टुकड़ा लेकर भागता है। वह चंचल है, चोर है, चालाक है। वैसी मेरी दशा रही। जीवन भर इधर-उधर से कुछ पा गया, उसी में अपने को बहुत बड़ा मान लिया। मतलब यह है कि मैं कुछ श्रमशील नहीं हुआ, न विद्यार्जन किया, न धनार्जन किया, न सेवा की, न साधना की, और भोग को जपता रहा लेकिन भोग भी नहीं मिला। जिनको भोग मिलते भी हैं, उनको भी सदैव वैसे कहां मिलते रहते हैं! भोग तो मिलकर बिछुड़ जाते हैं। शरीर रुग्ण और कमजोर हो जाता है।

दोहा-49

जग असार दुख जानिकर, उर से करुणा पूर।
शिवपद रक्षक जानि निज, प्रेम मगन मनचूर॥
शरद चाँदनी रैन कहँ, कोई पवित्र वनलीन।
कब धौं बैठि बिताइहौं, जग-बन्धन से हीन॥

मेरा वह दिन कब आयेगा, जब मैं संसार की पूरी सारहीनता को समझ लूंगा, प्राणिमात्र के प्रति मेरे मन में करुणा होगी, आत्मस्वरूप चेतन कल्याण-पद है, उसके प्रेम में मन विलीन होगा। किसी पवित्र वन की शरद चांदनी में मोह-बंधन से मुक्त होकर जीवन व्यतीत करूंगा। नव-जवानी में सुख पाने का भ्रम रहता है। धीरे-धीरे दिन बीतते हैं, बुढ़ापा, जर्जरता आने पर सब बेकार लगने लगता है। दिन जितने बीतते जाते हैं, संसार की निस्सारता और दुखरूपता के दर्शन होते जाते हैं। अगर स्वरूपबोध हो और साधना कर विषयों की निवृत्ति हो तो व्यक्ति अपनी दशा में ठहरता है। नहीं तो जानते हुए भी व्यक्ति वैसे ही दुखी रहता है। साधक कहता है कि जगत को दुखपूर्ण समझूंगा; हृदय करुणापूर्ण रखूंगा। प्राणिमात्र के लिए हित-भावना रखूंगा। शिवपद ही अपना रक्षक है। शिवपद आत्मपद है, सत्यपद है। शिव अर्थात कल्याण। जहां विकार न हो, वह कल्याणपद है। तो मैं शुद्ध आत्मिक प्रेम में मगन रहूंगा, लीन रहूंगा, चूर रहूंगा।

शरद की चांदनी होगी। किसी पवित्र वन में बैठकर ध्यान करूंगा और

मन बंधन से हीन हो जायेगा। साधक को जहां अवसर हो, वन हो, पर्वत हो, नदी का तट हो, बाग हो, मकान हो, एकांत कमरा हो; जहां हो, जब जो स्थिति हो, उसी में उसको साधना करने का मन बनाना चाहिए। जो अमुक जगह पाकर साधना और ध्यान करना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता है। जो अनुकूल परिस्थिति खोजता है, वह कभी साधना नहीं कर सकता है। जो सब परिस्थितियों में साधना करता है वही सफल होता है।

एक महात्मा ने एक पुस्तक ली और सोचा कि जब व्यवस्थित जगह मिलेगी, तब वहां पढ़ूंगा। महीनों घूमते रहे। कहीं व्यवस्थित जगह नहीं मिली। तब उनको ग्लानि हुई, पढ़ना शुरू कर दिया। हर जगह पढ़ते गये। कुवांरि भूमि कहीं नहीं मिलती है कि वहां तुम बैठो और कोई विघ्न-बाधा न हो। बस, करते चलो, करते चलो। हर जगह साधना की जगह है। ट्रेन में चल रहे हो, बस में चल रहे हो, भीड़ में चल रहे हो, एकांत में हो, कमरे में बैठो हो, मन में वैराग्य हो, स्वरूप भाव में ही तो ध्यान है, समाधि है। जंगल में हो और मन खुड़बुड़-खुड़बुड़ कर रहा है तो कुछ नहीं, सब बेकार है। इसलिए जो सब समय साधना कर सकता है, वही साधना कर सकता है। हां, एकांत स्थान का अपना महत्त्व है। इसलिए वैराग्यवान इसको श्रेय देते हैं।

छप्पय-50

तुम धन में संतुष्ट हमहुँ हैं वृक्ष वकल तें।
दोऊ भये समान नैन मुख अंग सकल तें॥
जाने जात दरिद्र बहुत तृष्णा है जिनके।
जिनके तृष्णा नाहिं बहुत संपत्ति है तिनके॥
तुमहीं विचार देखो दृगन को निर्धन धनवन्त को?
युत पाप कौन निष्पाप को? को असन्त अरु संत को?

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ धनवानो! तुम लोग धन में संतुष्ट हो और हम वृक्षों की छाल पहन कर संतुष्ट हैं। वैसे मुख, आंख, हाथ, पैर सभी अंगों को देखने से दोनों समान हैं। दरिद्र उसको समझना चाहिए जिसके मन में

बहुत तृष्णा है। जिसको तृष्णा नहीं है, उसको मानो बहुत संपत्ति है। तो संपदाशाली कौन है? मैं हूं। क्योंकि मेरे मन में कोई तृष्णा नहीं है। अब तुम्ही विचार कर देखो कौन धनवान है और कौन निर्धन है? कौन पाप में लिप्त है और कौन निष्पाप है? कौन संत है और कौन असंत है? पाप तृष्णा में है। जो तृष्णा में है वही पाप करेगा, वही गलत करेगा, वही दुखी रहेगा, और जो तृष्णा से हीन है वह संतुष्ट है।

दोहा-51

सत्संगत स्वच्छन्दता, बिना कृपणता भक्ष।
जान्यों नहिं केहि तप किए, यह फल होत प्रत्यक्ष॥

इस दोहा को साधक कंठ कर ले और इसको सदैव स्मरण में रखे तो सदा सुखी रहेगा। जीवन में तीन चीजें चाहिए—सत्संग, निर्बंधता और बिना कृपणता के भोजन। यह बड़ा सौभाग्य है कि अच्छे संतों की संगत बराबर मिलती है। गृहस्थों में जो हम घूमते हैं, वहां सावधान न रहें तो भटकाव के सिवा और कुछ नहीं है। वहां सम्मान मिलेगा, भोजन मिलेगा, कपड़े मिलेंगे, रुपये मिलेंगे और समय से पूजा-आरती मिल सकती है। लेकिन बोध नहीं मिलेगा। उधर से अबोध जरूर मिलेगा। हम वहां और भटक सकते हैं। इसलिए साधकों को बहुत सावधानी से घूमना चाहिए। संतों की संगत अमृत है। दूसरी बात है स्वच्छन्दता। मन और इन्द्रियां अपने स्ववश हों, यही स्वतंत्रता है, स्वच्छन्दता है। यह नहीं कि मनमानी घूमना स्वच्छन्दता का लक्षण है। मन की गुलामी न हो यह स्वच्छन्दता है। किसी प्रकार राग-रंग में मन फंसा न हो। मन हर समय स्वतंत्र हो। भोजन में क्या मिला? रोटी-भात के साथ नमक मिला कि दाल, घी, मेवे मिले, कोई फर्क नहीं। बिना कृपणता के पेटभर भोजन खाने को मिल जाय बस।

जान्यों नहिं केहि तप किए, यह फल होत प्रत्यक्ष। भर्तृहरि जी कहते हैं कि यह किस तपस्या का फल है। अब सोचो, उत्तम फल पाये हो कि नहीं। सत्संग मिल रहा है और खाने को पेट भर भोजन मिल रहा है। मन को स्वच्छ करके निर्बंधता मिलती है। यह महा सौभाग्य का फल है।

छप्पय-52

भोजन को कर पट्ट दशों दिशि बसन बनाये।
भखै भीख को अन्न पलंग पृथ्वी पर छाये॥
छाँड़ि सबन को संग अकेले रहत रैन दिन।
निज आतम सों लीन पौन संतोष क्षिनहि क्षिन॥
मन के विकार इन्द्रीन के डारे तोर मरोर जिन।
वे धन्य धन्य संन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन॥

भोजन को कर पट्ट। भोजन का पट्ट अर्थात पात्र कर (हाथ) को बनाया। हाथ में कोई बरतन नहीं है। जहां गये, हाथ में मांग लिए और खा गये। **दशों दिशि बसन बनाये।** दसों दिशाओं को कपड़ा बना लिये। ये दिशाएं ही वस्त्र हैं, नंगधड़ंग। **भखै भीख को अन्न पलंग पृथ्वी पर छाये।** भिक्षा का भोजन कर लिया और पृथ्वी बहुत बड़ी पलंग है कहीं पर सो गये। यह पलंग न टूटने वाली न फूटने वाली न इसे कसने की जरूरत है। **छाँड़ि सबन को संग अकेले रहत रैन-दिन।** सबका संग छोड़कर; संग नाम साथ, संग नाम मोह, सबका मोह छोड़कर रात-दिन अकेले रहते हैं। **निज आतम सों लीन पौन संतोष क्षिनहि क्षिन।** अपने आत्मा में लीन हैं और क्षण-क्षण संतोष का पान करते हैं, संतोष धारण करते हैं। **मन के विकार इन्द्रीन के डारे तोर मरोर जिन।** मन-इन्द्रियों के विकारों को जिन्होंने तोड़-मरोड़ डाला है। **वे धन्य धन्य संन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन।** उनका संन्यास धन्य है, जिन्होंने कर्मों को जड़ से उखाड़ फेंका है। कर्मसंस्कारों को दग्ध कर दिये और निष्कामतापूर्वक जीवन जीते हैं। इसका अर्थ इतना ही लेना चाहिए कि भोजन में, वस्त्र में, आवास में और मान-सम्मान में, किसी भी चीज में फंसे न। सहज जो मिले उसी में गुजर कर ले। मान-सम्मान तो गुजर की चीज ही नहीं है। भोजन, वस्त्र, आवास सहज जैसे मिलें, ले ले। अपना मन निर्बंध रखें और भजन में मस्त रहे।

दोहा-53

नृप सेवा में तुच्छ फल, बुरी काल की व्याधि।
अपनो हित चाहत कियो, तो तू तप आराधि॥

भर्तृहरि जी साधारण लोगों के लिए कहते हैं, राजा की सेवा, राजनेता

की सेवा, इसमें तुच्छ फल है। इसमें दुनियादारी की कुछ चीजें मिलती हैं। **बुरी काल की व्याधि।** काल की व्याधि बहुत बुरी है, भयंकर है। **काल की व्याधि।** काल मौत को कहते हैं, समय को कहते हैं और अज्ञान को भी कहते हैं। अज्ञान में पड़े-पड़े समय बीत जाता है। राजाओं, राजनेताओं की सेवा में अपने समय को बर्बाद न करो। यदि अपना हित चाहते हो, कल्याण चाहते हो, तो तप करो, साधना करो। इसी में कल्याण है, परम सुख है।

कुण्डलिया-54

जैसे चंचल चंचला त्यों ही चंचल भोग।
तैसे ही यह आयु है ज्यों घट पवन प्रयोग॥
ज्यों घट पवन प्रयोग तरल त्यों ही यौवन तन।
बिनशत लगत न वार गहत ह्वै जात ओस कन॥
देखो दुःसह दुक्ख देह धारिन को ऐसो।
साधत संत समाधि व्याधि सों छूटत जैसो॥

जैसे चंचल चंचला। चंचला कहते हैं बिजली की चमक को, जो आकाश में बादल में चमकती है। जैसे बिजली की चमक चंचल है, वैसे ही संसार के सब भोग चंचल हैं। राजनेताओं को देखो, मंत्रियों को देखो, उनके पास कितनी गहमागहमी है। किंतु जब वे पद से उतर गये तो उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है। ऐसे रजवाड़े हुए, जो दुश्मनों द्वारा गिरफ्तार कर लिए गये, और उसी राजभवन के एक कमरे में बेड़ी-हथकड़ी लगाकर डाल दिये गये। जो राजभवन उनका बनवाया था या पैतृक था, जिसमें वे विलास करते थे, उसी राजभवन के किसी एकांत कमरे में बेड़ी-हथकड़ी पहनाकर डाल दिये गये। ऐसे ही संसार के सारे भोग चंचल हैं, जवानी चंचल है, यहां कुछ भी स्थिर नहीं है। **तैसे ही यह आयु है, ज्यों घट पवन प्रयोग।** घट अर्थात बादल। जैसे पवन के प्रयोग से बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही जवानी, रूप-सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य, अनुकूल लोगों की संगत सब क्षण-पल में विनस और बिखर जाने वाले हैं। **तरल त्यों ही यौवन तन।** जवानों की जवानी भी तरल है, बहने वाली चीज है। **बिनशत लगत न वार गहत ह्वै जात ओस कन।** वैसे इनके विनशते

देरी नहीं लगती है। जैसे ओस के कण को मोती समझकर पकड़ो और पकड़ते ही खो जाता है; ऐसे ही संसार की चीजें पकड़ो और वे खो जाती हैं। यहां आकर्षित होना केवल अपनी बेवकूफी रहती है, चाहे रूप में, चाहे रस में, चाहे गंध में सब हमारी बेवकूफी है।

एक भक्त ने एक बार कहा था कि साहेब, लड्डू-पूड़ी, हलवा, मालपूवा आदि खाने में अंत में मजा नहीं आता है; और रोटी-दाल-भात-सब्जी खाने में अंत में मजा आता है। तो सब हंसने लगे। क्योंकि लड्डू, पूड़ी, हलवा, मालपूवा आदि खाने की शुरुआत में जीभ में थोड़ा लगता है कि हां, बढ़िया चीज खा रहे हैं, किन्तु पीछे मजा नहीं आता है बल्कि पछतावा होता है। और असावधानी में ज्यादा खा लिए, तो अंत में सजा हाथ आती है। दाल-भात, रोटी-सब्जी खाये और संतुलित खाये तो अंत में बड़ी प्रसन्नता रहती है। भोगों में मजा नहीं है, किन्तु केवल भूल, भ्रम, अज्ञान और हमारी अविद्या है। तंबाकू क्या है? कितनी गंदी चीज है? लेकिन जो तंबाकू खाते हैं, वे उसमें मजा माने बैठे हैं।

देखो दुःसह दुक्ख देह धारिन को ऐसो। विवेकवानों ने देखा कि संसार के सब देहधारी भोगों में पड़कर दुसह दुख भोग रहे हैं। इसीलिए **साधत संत समाधि व्याधि सों छूटत जैसो।** संत समाधि साधते हैं, और मन की व्याधि से, दुख से मुक्त होते हैं। श्री निर्मल साहेब ने कहा है—

जिगर ही जानता होगा कि कैसी पीर होती है।
निर्मल इस मर्ज की औषध समाधी में बताया है॥

इस मानसिक रोग की औषधि समाधि है। समाधि, जहां सारी आधि का अंत है, सारे मानसिक क्लेशों का अंत है।

सोरठा-55

विप्रन के घर जाय, भीख मांगिबो है भलो।
बन्धुन को सिर नाय, भोजन हू करिबो बुरो॥

ब्राह्मणों के घर भीख मांगकर खा लेना अच्छा है, किन्तु बंधुओं के सामने सिर झुकाकर भोजन करना बुरा है।

यह नीति का वचन है।

ब्राह्मणों के घर में जाकर भीख मांगकर खा लेना अच्छा है। लेकिन बंधुओं को सिर झुकाकर उनके यहां भोजन करना अच्छा नहीं है। अपने लोगों में अपमानित होना खलता है। वैसे भाई तो भाई है उसके पास सिर झुकाकर रहना अच्छा है। आखिर कहीं जायेंगे तो वहां भी सिर झुकाना पड़ेगा। तो भाई के सामने सिर झुकाना क्या बुरा है। इस भिन्न पक्ष पर भी सोचना चाहिए।

दोहा-56

विप्र शूद्र योगी तपी, सुपच कहत कर ठोक।
सबकी बातें सुनत हौं, मोको हर्ष न शोक॥

लोग ताली बजाकर मजाक करते हैं कि यह ब्राह्मण है, कोई कहता है नहीं, यह शूद्र है; कोई कहता है योगी है, कोई कहता है नहीं, यह तपस्वी है, कोई कहता है यार, यह भंगी है। मैं सबकी बातें सुनता हूं। मुझे न हर्ष है न शोक है। गोस्वामी जी भी कहते हैं–

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारि न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै पुनि सोऊ।
माँगि कै खैइबो मसीद कै सोइबो लैबो कै एक न दैबौ को दोऊ॥

(कवितावली)

मुझे चाहे धूर्त कहो, चाहे अवधूत कहो, चाहे राजपूत कहो, चाहे जुलाहा कहो। हमारे कोई लड़का थोड़े है कि उसके लिए किसी की लड़की मांगना है। गोस्वामी जी भी बड़े चतुर थे। वे यह नहीं कहते कि मुझे किसी के लड़का से अपनी बेटी नहीं ब्याहना है। वे कहते हैं, क्या मेरे कोई लड़का है जो मैं लड़की खोजूंगा। लड़की है तो किसी को भी दे दे। लेकिन लड़का के लिए बहू मिलना मुश्किल है। किसी की जाति में मिलकर उसकी जाति नहीं बिगाड़ना है। मांग कर खा लेना है और किसी मस्जिद में सो जाना है। मस्जिद यानी किसी उपासनागृह में सो जाना है। न एक लेना है, न दो देना है। एक दोष किसी से नहीं लेना है, और दो मन

और वीर्य कहीं नहीं देना है। अर्थात अपना मन कहीं नहीं आसक्त करना है और अपना वीर्य कहीं नहीं देना है। गोस्वामी जी कहते हैं, तुलसीदास तो गुलाम हैं श्रीराम के चरणों का। जिसके मन में जो आये सो कहे।

दोहा-57

ते नर जग में धन्य हैं, शरद शुभ्र निशि माहिं।
तोड़े बन्धन जगत के, मनते विषयन काहिं॥

वे मनुष्य संसार में धन्य हैं, जो शरद की चांदनी में ध्यान करते हैं, चिंतन करते हैं और मन के विषय-बंधनों को तोड़ते हैं। शरद की चांदनी तो बहुत थोड़े समय के लिए है। अगर कोई सालभर मन के विषय-बंधनों को नहीं तोड़ता है तो केवल शरद चांदनी में तोड़ने से क्या फायदा? यह सब लाक्षणिक है; मतलब है कि हर समय अपने मन के बंधनों को तोड़े।

सोरठा-58

विषय सर्प को मारि, चित लगाय शुभ कर्म में।
पुण्य कर्म शुभ धारि, त्यागे सब मन वासना॥

वे पुरुष उत्तम हैं, जो विषय-सर्प को मार देते हैं और अपने चित्त को शुभ कर्म में लगाते हैं। अपने जीवन में पुण्य कर्म करते हैं और विषय-वासना को मन से पूर्णतः त्याग देते हैं।

छप्पय-59

अरे चित्त कर कृपा त्याग तू अपनी चालहिं।
सिर पर नाचत खड्यो जान तू ऐसो कालहिं॥
ये इन्द्रिय गण निठुर मान मत इनको कहिबो।
शांत भाव कर ग्रहण सीख कठिनाई सहिबो॥
निज मति तरंग सम चपल तजि नाशमान जग जानिये।
जनि करहु तासु इच्छा कछू शिव स्वरूप उर आनिये॥

अरे चित्त! तू कृपा कर, तू अपनी चंचल चाल छोड़ दे और शांत हो

जा। देख, तेरे सिर पर काल खड़ा नाच रहा है। कब तेरे को वह उठा ले जाये, इसका कुछ पता नहीं है। ये इन्द्रियां बड़ी निष्ठुर हैं। इनका कहा मत मान। इन्द्रियों के पीछे मत चल। शांत भाव ग्रहण कर, सहनशील बन। कठिनाई को सहना सीख! कायर मत बन। अपनी बुद्धि जो पानी की तरंग की तरह चंचल है, चपल है, उसको छोड़ और जगत को नाशवान समझ। जो कुछ तेरे को मिला है, वह स्थिर नहीं है। इसलिए उसमें आसक्त मत हो।

जनि करहु तासु इच्छा कछू, शिव स्वरूप उर आनिये। संसार के विषयों की कुछ भी इच्छा मत करो। हृदय में शिव स्वरूप का ध्यान करो। शिवस्वरूप का मतलब आत्मस्वरूप, स्वत्व, स्वस्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व में स्थित हो। दो प्रकार के साधक होते हैं। एक साधक वे हैं जो अपना आराध्यदेव अलग मानकर कल्पना में उससे अपना सान्निध्य करते हैं। वे समझते हैं कि परमात्मा मुझसे अलग है। मैं उससे बिछुड़ गया हूं। दूसरे साधक वे हैं जो मन की वासनाओं को छोड़कर अपने आप में शांत होते हैं। वे समझते हैं कि आत्मा की शुद्ध अवस्था ही परमात्मा है और वह स्वयं आत्मा है। पहला साधक मन से कल्पना करता है ईश्वर की और उससे अपने को जोड़ता है। यह शुभ है, लेकिन कल्पना का राज्य है। किन्तु दूसरा साधक वास्तविकता में है। वह कल्पना ही को खत्म कर देता है। जब कल्पना ही नहीं रह गयी तो कल्पित वस्तु कहां? वह स्वयं शिवस्वरूप है। स्वरूप ही शिव है, आत्मा ही शिव है। वासनाओं का त्याग करो और अपने स्वरूप में स्थित होओ। स्वस्वरूप ही परमात्मा है।

दोहा-60

वकल वसन फल असन करि, करिहौं वन विश्राम।
जित अविवेकी नरन को, सुनियत नाहीं नाम॥

वृक्षों की छाल का कपड़ा बना लूंगा, फल का भोजन करूंगा और वन में विश्राम करूंगा, जहां अविवेकी मनुष्यों के नाम भी सुनाई नहीं देते।

इन अविवेकी आदमियों के बीच में रहकर खीझ होती है कि वन में चला जाऊंगा। वहां अकेले पड़ा रहूंगा, कोई झंझट नहीं रहेगी। अब प्रश्न

होता है कि भोजन, वस्त्र और आवास के लिए क्या करूं? तब वे कहते हैं भूख लगेगी तब फल तोड़कर खा लूंगा और ठंडी-गरमी लगेगी तब वृक्षों की छाल पहन लूंगा तथा जंगल के वृक्षों के नीचे रह लूंगा। यह अच्छा रहेगा। भर्तृहरि जी जब रहे होंगे तब लगता है जंगलों में ऐसी सुविधा रही होगी। आज घूम आओ जंगलों में तो फलों का मिलना बड़ा मुश्किल है। इसलिए गांव से भोजन-वस्त्र लो और विवेक से रहो।

तथागत बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्यम मार्ग कहा। महावीर स्वामी अति त्याग किये। महात्मा बुद्ध ने भी आरम्भ में अति त्याग किया और अति त्याग में निर्बल हुए। लेकिन वासनाओं की निवृत्ति नहीं हुई, तब उन्होंने उसको छोड़ दिया। कहा जाता है एक वीणावादक वीणा बजा रहा था। उसका एक तार बहुत ढीला था, एक तार बहुत कसा हुआ था और एक तार मध्य था। तो जो कसा हुआ था उससे बड़ी कर्कश आवाज आ रही थी। जो बहुत ढीला था उससे बहुत मंद आवाज आ रही थी और जो मध्यम था उससे मधुर आवाज आ रही थी। उन्होंने सोचा कि बहुत कड़ा त्याग दुखद है, विलासी होना तो महादुखद है, मध्य का रास्ता ही ठीक है। सद्गुरु कबीर का भी विचार मध्य का है। पारखी संतों की रहनी मध्य की है और यही ठीक है। मध्य का रास्ता ही ठीक है।

छप्पय-61

मोह छाँड़ मन मीत प्रीत सो चन्द्र चूड़ भज।
सुर सरिता के तीर धीर धर दृढ़ आसन सज॥
शम दम भोग विराग त्याग तप को तू अनुसरि।
वृथा विषय बकवाद स्वाद सबको तू परिहरि॥
थिर नहिं तरंग बुदबुद तड़ित अगिन शिखा पन्नग सरित।
त्यों तन यौवन धन अथिर चल दल-दल कैसे चरित॥

ऐ चित्त! तू प्रेम से चंद्रचूड़ का भजन कर। जो चूड़ पर चन्द्र धारण करे। चूड़ = चोटी, सिर पर जो चन्द्रमा को धारण किये हुए हैं, उन शिव का तू भजन कर। वस्तुतः शिव आत्मा है, आत्मलीन हो। **सुर सरिता के तीर धीर धर दृढ़ आसन सज।** गंगा नदी के किनारे धीरज धारण कर

आसन लगा। **शम दम भोग विराग त्याग तप को तू अनुसरि।** मन और इन्द्रियों को वश में करना शम और दम है। भोगों से विराग कर। कामादि भोग, राग–रंग इन सब का दूर से त्याग कर। अशन, वसन, निवसन सबमें उदास, सरल जीवन हो। तप करो; कष्ट सहन करना ही तप है। पंचाग्नि तापना तप नहीं है। काया कष्ट करना तप नहीं है। सब अवस्था में सम रहना तप है। अनुकूल–प्रतिकूल अवस्था में सम रहना तप है। **वृथा विषय बकवाद स्वाद सबको तू परिहरि।** विषयों का पूर्ण त्याग कर और व्यर्थ की बकवाद करना छोड़ दे।

थिर नहिं तरंग बुदबुद तड़ित अगिन शिखा पन्नग सरित। शरीर, जवानी और भोग, पानी की तरंग, पानी के बुदबुदे, बिजली की चमक, आग की शिखा, सांप का फन, सरिता की धारा और पीपल के पत्ते के समान चंचल हैं। यह सारा, संसार अत्यन्त चंचल है, क्षणिक है। यहां कहीं भी आसक्त मत होओ।

दोहा–62

विषय देह क्षण भंग लखि, त्यागि ताहिं अभिमान।
निर्विकल्प निज रूप महँ, तू समाधि को ठान॥

विषय और देह क्षणभंग हैं। इसलिए इनका अभिमान छोड़ और निजस्वरूप में स्थित होकर, निर्विकल्प हो जा। निजरूप की स्थिति निर्विकल्प अवस्था में होती है। संकल्पों का पूर्ण त्याग निर्विकल्प अवस्था है। संकल्पों को त्यागते रहना द्रष्टा अवस्था है। संकल्पों को त्यागते रहना भी बहुत बड़ी बात है। संकल्पों को देखता रहे और छोड़ता रहे, तो संकल्पों का सारा भार उतर जाता है। दीर्घकाल तक ऐसा अभ्यास करते–करते सारे संकल्प शांत हो जाते हैं, तब निर्विकल्प मन हो जाता है। फिर आत्मस्वरूप भाव में स्थित होना सीधा सहज हो जाता है। इसके पहले की जितनी साधनाएं हैं, वह क, ख, ग की तरह हैं। ज्योति देखकर मन ठहराना, सांस देखकर मन ठहराना, शरीर में लहर इत्यादि देखकर मन ठहराना, ये सब प्रथम साधना में क, ख, ग की तरह हैं। अंतिम साधना है द्रष्टा रहना। देखते रहो मन को, उसमें बहो न। संकल्पमात्र को देखो और

त्यागो। उसमें मिलकर बहो न। फिर सारे संकल्प शांत हो गये, मन निर्विकल्प हो गया। यही पूर्ण समाधि है।

दोहा-63

तजि तरुणी सो नेह, बुद्धि वधू सो नेह कर।
नरक निवारत येह, वहै नरक लै जात है॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, कामवासना का त्याग करो, और बुद्धि-वधू से प्रेम करो। स्त्री से प्रेम न करो, सद्बुद्धि से प्रेम करो। क्योंकि एक तो नरक में ले जाती है और दूसरी स्वर्ग में ले जाती है। साधिका स्त्री है, वह पुरुष में मोह करेगी, तो पुरुष का मोह उसे नरक में ले जायेगा। यदि अपनी सद्बुद्धि में, विवेक में मोह करेगी, सत्संग का आधार लेगी तो कल्याण होगा। क्योंकि स्त्री-पुरुष दोनों तो चेतन हैं, और दोनों को कल्याण चाहिए। इसलिए कामवासना जीवमात्र को नरक में ले जाती है और विवेकवती बुद्धि कल्याण करती है।

छप्पय-64

हिंसा चोरी रहित सत्य मुख शब्द उचारन।
समय शक्ति अनुसार दान दाया उर धारन॥
पर नारी की बात माहिं चुप मुख से रहिबो।
गुरुजन संत समक्ष नम्र ह्वै सद्गुण गहिबो॥
भिन्न-भिन्न सदग्रंथ मह करि समान विश्वास चित।
ये सब नित सुख प्राप्ति को सुगम पंथ सब जीव हित॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, हिंसा न करे, चोरी न करे, सदैव सत्य बोले, मुख से कभी कटुवचन न कहे। समय और शक्ति के अनुसार दान करे। सब जीवों पर दया करे, और हमेशा हृदय में दया का भाव बनाये रहे। परनारी की चर्चा स्वयं न करे, यदि चर्चा होती हो तो चुप रहे या वहां से उठ कर चला जाय। गुरुजनों, संतों और बड़ों के समक्ष नम्र रहे। नम्र तो हर जगह रहे, लेकिन वहां और नम्रता का भाव प्रकट करे। सबसे सद्गुण ग्रहण करे और दुर्गुण किसी का न ले। भिन्न-भिन्न सद्ग्रन्थों में समान विश्वास करे,

किन्तु पारखी यह बात पसंद नहीं करेगा। भिन्न-भिन्न सद्ग्रंथों से सार ले, यह माना जायेगा, उसमें समान विश्वास कैसे किया जाय?

एक बार मोहम्मद नगर में जब मैं इसका प्रवचन कर रहा था, तो शंकर भगत तुरंत पूछ पड़े—साहेब! सब सद्ग्रंथों में समान विश्वास कैसे करें? तब मैंने कहा, आप ठीक कहते हैं। आम-घास सब लिखा है, सब कैसे मान लें? भिन्न-भिन्न सद्ग्रंथों से सार-सार ले लें। उपर्युक्त बातें नित्य सुख प्राप्त करने के लिए सुगम रास्ता है, सद्गुणग्राह्य दृष्टि है। एक बार सरसरी निगाह से देखें, यह कितना बढ़िया कथन है—हिंसा न करे, चोरी न करे, सत्य और मीठे वचन बोले, समय-शक्ति के अनुसार दान करे, सब जीवों पर दयावान हो, परस्त्री की चर्चा में चुप रहे, गुरु-संत और अपने से बड़ों के साथ नम्रता का बरताव करे, सबसे सद्गुण ग्रहण करे और सभी सद्ग्रंथों से सार ले, यह सब सुख का रास्ता है।

दोहा-65

मोको तजि भजि और को, ऐसी लक्ष्मी मात।
हौं पलास के पात में, मांग्यो सतुआ खात॥

ऐ लक्ष्मी मां! मेरे को छोड़कर तू और को भज। मैं तो सत्तू मांगकर पलास के पत्ते में खा लेता हूं। मुझे अब कोई चिंता नहीं है। यह निश्चिंतता का कितना बढ़िया सूत्र है। सतुआ ही नहीं, दाल-भात, रोटी-सब्जी खाओ, लेकिन निश्चिंत रहो, इच्छा न रखो। दाल-भात खाओ तो यह न हो कि महीन चावल होता तो अच्छा होता, यह मोटा चावल है। इस प्रकार अपने मन में इच्छा न हो। मोटा चावल मिले खा लो, महीन चावल मिले तो खा लो, भात के साथ सब्जी मिले खा लो, दाल मिले खा लो। अगर उसमें घी पड़ा हो और अरुचि न हो तो खा लो, घी न हो तो खा लो। इस प्रकार जब जो मिले खा लो, बस मस्त। यह नहीं कि सत्तू खाये तब साधक हैं। कितने साधक बात पकड़ लेते हैं और बस, सत्तू शुरू कर देते हैं। गये भक्त के यहां तो उनके पास सत्तू कहां है? तुम उनसे सत्तू मांग रहे हो, उन्हें रोटी देना तो सरल है, सत्तू देना सरल नहीं है। तब सत्तू कहां अच्छा हुआ। सत्तू लाक्षणिक है। निष्फिक्र रहो और जो मिले गुजर कर लो। और मस्त भजन करो।

दोहा-66

तुम-हम हम-तुम एक हैं, सब विधि रह्यो अभेद।
अब तुम-तुम हम-हमहि हैं, भयो कठिन यह भेद॥

भर्तृहरि जी का कोई पुराना मित्र था। उसने उनसे कहा कि भई, तुम तो अब मिलते नहीं हो। उन्होंने कहा, देखो **तुम हम हम-तुम एक हैं, सब विधि रह्यो अभेद।** तुम और हम, हम और तुम सब विधि एक थे। लेकिन अब तुम, तुम हो और हम, हम हैं। **यूयं यूयं वयं वयम्**–तुम–तुम, मैं मैं हूं। **भयो कठिन यह भेद।** तुम्हारा रास्ता संसार का है, मोह का है, और मेरा रास्ता निर्मोहता का है।

छप्पय-67

ऐ बाले! निज अर्ध नेत्र क्यों बाण चलावत।
रोक काम की दृष्टि व्यर्थ क्यों श्रम उठावत॥
पहिले ऐसे रहे नहीं हम निरस भये अब।
गये मोह अरु छोह सकल सुख भोग आश दब॥
निश्चय कीन्हें हृदय में कहुँ निर्जन बन में रहन।
विषय भोग तृण तुच्छ लखि अमर परम पद को गहन॥

ऐ बाले, ऐ युवती! अपने अर्ध नेत्र का बाण क्या चला रही है। उसको रोक। अब मेरे मन में काम की दृष्टि नहीं रही। तू मुझे रिझाने के लिए परिश्रम मत कर। पहले जैसा मैं अब नहीं रहा। अब मैं निरस हो गया हूं। अब मैंने संसार का कच्चा–चिट्ठा समझ लिया है। अब मेरा मोह–क्षोह मिट गया है। सारे सुख–भोग की आशा मिट गयी है। अब तो मैंने निश्चय कर लिया है किसी निर्जन वन में रहने के लिए। अब तृणवत तुच्छ विषय–भोगों को त्याग कर मैं अमृतस्वरूप आत्मा में निमग्न हूं।

दोहा-68

केहि कारण डारत वयन, कमल नयन यह नार।
मोह काम मेरे नहीं, तऊ न तिय चित हार॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ स्त्री! मेरे ऊपर अपना नेत्र–बाण क्यों चला रही है। मेरे मन में तो अब काम नहीं रहा, फिर भी तेरा मन मेरे प्रति

भटकता है। यह सब कहने का एक तरीका है। दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता है। अपना पाजीपन है, जो अपना मन विषय-वासना में जाता है। अपना पाजीपन छोड़ दें बस। अपनी आंखों को नम्र रखो और स्त्री की तरफ मत ताको। यदि देखो तो, मां-बहन की तरह समझ कर। अपने मन को विषयों से उदास, विचार-विवेक से संपन्न रखो।

छप्पय-69

महल महा रमणीक कहा बसिबे नहिं लायक।
नाहिन सुनबे योग कहा जो गावत गायक॥
नव तरुणी को संग कहा सुख हू नहिं लागत।
तो काहे को छाँड़ छाँड़ ये वन को भागत॥
इन जान लियो इह जगत को जैसे दीपक पवन में।
बुझि जात छिनक में छबि भरयो होत अंधेरी भवन में॥

क्या इन साधु-संन्यासियों को रहने के लिए सुन्दर भवन न थे? क्या इनको सुनने के लिए अच्छे-अच्छे संगीत न थे? क्या इनको नवतरुणियां नहीं मिल सकती थीं। फिर क्या कारण है कि ये छोड़-छोड़ कर उठती जवानी में वन को भाग रहे हैं, साधु-संन्यासियों के आश्रम में जा रहे हैं। उत्तर यह है कि इन लोगों ने जान लिया, जैसे एक भव्य भवन हो और दीपक जल रहा हो, और हवा का झोंका आये, तो क्षणमात्र में ही वह दीपक बुझ जाता है। फिर सुन्दर भवन में अंधेरा हो जाता है। इसी प्रकार सारे सुख-भोग क्षण ही में खो जाते हैं। इन भोगों से जर्जरीभूत अपना चित्त जीवनभर अपने को दुख देता है। इनकी वासनाएं जन्म-जन्मांतर भव-व्याधि में भटकाती रहती हैं। भोगों का जो फल है, और भोगों का जो अंत है, उसको इन संन्यासी युवकों ने जान लिया है। भोगों का फल है बंधन, दुख और अंत है विनाश। इसलिए इन्होंने इन सब का परित्याग करके संन्यास ग्रहण किया और निरन्तर साधना में डूबे हैं।

कोई व्यक्ति कहीं सुन्दर भवन में जाय, जो स्फटिक शिलाओं से बना हो, चारों तरफ चमकता हो और संसार के सारे वैभव उसमें विद्यमान हों। उसको देखकर मन आनंदित हो जायेगा, क्या पूछना? लेकिन यदि वह

उसमें रहने लगे तो कुछ दिनों के बाद उसका मन बेचैन हो जायेगा। अंततः उसमें शांति न मिलेगी। एक करोड़पति ने मुझसे एक बार कहा था, महाराज! रुपये मुझे काटते हैं। उनको इतने रुपये थे, इतना धन था कि उसी से उनका मन चंचल था, चिंतित था कि इसका क्या होगा, कैसे होगा? तो संसार के भोगों का अंत होगा विनाश में, और उसका फल है दुख! यह समझकर इन नवयुवक संन्यासियों ने विरक्ति ले ली।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

23 सितंबर, 1995 ई०)

पांचवां प्रवचन

छप्पय-70

कहा कन्दरा हीन भये पर्वत भूतल से।
झरना निर्जल भये कहा जे पूरित जल से॥
कहा रहे सब वृक्ष फूल फल बिन मुरझाये।
सहे खलन के बैन अन्धता जो मद छाये॥
कर संचित धन जे स्वल्प हूँ इत उत फेरे भ्रू विकट।
रे मन! तू भूल न जाहु कहुँ इन खल पुरुषन के निकट॥

भर्तृहरि जी कहते हैं कि क्या पृथ्वी पर जो पर्वत हैं, उनमें कंदरायें नहीं रह गयीं। क्या जो झरनें हैं वे जल से रहित हो गये हैं? क्या जो वन के वृक्ष हैं उनमें अब फूल-फल नहीं लगते? अगर पर्वत में गुफाएं हैं, रहने की जगह है, झरनों में पीने के लिए पानी है और खाने के लिए वृक्षों में फल-फूल हैं, तो फिर क्यों धन-मद में उन्मत्त लोगों के सामने जाते हो? इन खलों के कटुक वचन क्यों सहते हो? ये थोड़ा-सा धन इकट्ठा कर लिए उसके मद में दूसरों को टेढ़ी नजर से देखते हैं। वे समझते हैं कि हम ही सब कुछ हैं। हे मन! भूलकर भी इन खल मनुष्यों के निकट मत जाना। इनसे निस्पृह रहना।

भर्तृहरि जी का जब समय था, उस समय वन में फल-फूल रहे होंगे। झरनों में जल अब भी है, और पर्वत में गुफाएं भी हैं। लेकिन फल पहले जैसे नहीं हैं। पहले वनों की अधिकता थी, इतनी अधिकता थी कि पूरा भूमण्डल जंगलों से ढका था। अभी सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व भारत की जनसंख्या आज की अपेक्षा करीब एक तिहाई भी नहीं थी, तब भारत में बहुत जंगल था। मैंने स्वयं बचपन में देखा है कि गोण्डा जिले में जितना जंगल था आज उसका कहीं पता नहीं लगता है। और आज से हजारों वर्ष पूर्व पूछना ही क्या, खूब जंगल था। तो गुफाएं हैं और झरनों में पानी भी

है, लेकिन जंगलों में फल दुर्लभ है। कहीं कुछ थोड़ा-मोड़ा हो सकता है। इसीलिए एक संत जब जंगल में घूम रहे थे और बस्तियों में भी, तो उन्होंने आज से कोई तीस-चालीस वर्ष पूर्व पत्र में लिखा था, और वह एक पत्रिका में छपा भी था कि अगर कोई संत जंगल में रहना चाहें तो वे इस साधन से यहां आयें। वे कुम्हड़ा-लौकी और फलों के बीज लेते आवें और यहां पर जमीन गोड़कर बो दें, और चारों तरफ से लकड़ी की बाड़ लगा लें, जिससे वह सुरक्षित रहे। बड़ा-बड़ा प्रपंच लिखा था कि तभी यहां गुजर हो सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। वह सारा प्रपंच वही है, जो सामान्य देहात में या मैदानी भाग में करना पड़ता है। अतएव सारे कथन सारे देश-काल के लिए अनुकूल नहीं होते हैं। यह कथन लाक्षणिक समझना चाहिए। जो धनमद में मतवाले हैं, उनके पीछे मत भटको, अपने जीवन गुजर के लिए स्वावलंबी बनो।

दोहा-71

गंगातट गिरिवर गुफा, उहाँ कहा नहिं ठौर।
क्यों ऐते अपमान सो, खात पराये कौर॥

गंगा का तट और पर्वतों की गुफाओं में क्या जगह नहीं है? क्यों अपमान से पराये का कौर खा रहे हो? जो तुम्हें दुत्कार रहे हैं, जो तुम्हारा अपमान कर रहे हैं, उनसे अपनी रक्षा की कामना क्यों करते हो?

दोहा-72

मेरु गिरत सूखत जलधि, धरनि प्रलय ह्वै जात।
गज सुत के श्रुति चपल ज्यों, कहां देह की बात॥

बड़े-बड़े पर्वत नष्ट हो जाते और समुद्र सूख जाते हैं, और धरती का प्रलय हो जाता है। फिर हाथी के बच्चे के कान के समान चंचल इस देह की क्या बात है? हाथी के बच्चे के कान बहुत चंचल होते हैं। हाथी भी अपने कान को हिलाता रहता है। लेकिन हाथी के बच्चे के कान और बहुत चंचल होते हैं। हरदम वह हिलाता रहता है।

मेरु गिरत, पर्वत गिर जाते हैं। धीरे-धीरे पर्वत घिसते-घिसते शून्य हो जाते हैं। और **सूखत जलधि,** समुद्र सूख कर वहां पर्वत हो जाता है।

धरनि प्रलय ह्वै जात, पृथ्वी का प्रलय हो जाता है। पृथ्वी तो रहती है, उस पर परिवर्तन होना ही प्रलय है।

अभी बिहार के पश्चिमी हिस्सा से लेकर उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब ये पहले का समुद्र क्षेत्र माना जाता है। इस प्रकार संसार में परिवर्तन बना रहता है, यही उसका प्रलय है। फिर शरीर की क्या बात है, जो मौत का झोंका आया और खत्म। ऐसे गंदे शरीर में बैठकर आदमी क्या-क्या सोचता है? राग-द्वेष, ईर्ष्या, कलह-कल्पना और नाना मनोविकारों में डूबता है। जो यह स्वच्छंद जीवन है, जिससे कल्याण का काम करना चाहिए, उसे दूसरे की बुराइयों को सोचने और कहने में बिताता है। अपनी बुराइयों का हमें पता नहीं, जो अथाह है। हमें चाहिए कि अपना दोष सुधारें। दूसरे के दोष को कहने और सुनने की गुंजाइश कहां है? जवान मरते हैं, परिपक्व मरते हैं, बूढ़े मरते हैं, और जर्जर ही नहीं मरते हैं, शिशु भी मरते हैं, गर्भस्थ शिशु भी मर कर पैदा होते हैं। इसलिए साधक को होश-हवास में रहना चाहिए, और अपने कल्याण में रात-दिन तत्पर रहना चाहिए।

दोहा-73

एकाकी इच्छा रहित, पाणि पात्र दिग वस्त्र।
शिव शिव हौं कब होउंगो, कर्म शत्रु को शस्त्र॥

मेरा वह दिन कब होगा, जब मैं अकेला होऊंगा, इच्छारहित होऊंगा और हाथ ही मेरा भोजन का पात्र होगा, तथा दिशाएं ही वस्त्र होंगी। शिव-शिव जप करते हुए मैं कर्मशत्रु का विध्वंस करूंगा। खास बात है कि साधुओं की संगत में रहते हुए, भक्ति-सेवा-साधना करते हुए, विनम्र होकर अपने दोषों को निकालते हुए, अपने आत्मा का कल्याण करेंगे। दूसरे के दोषों को कभी नहीं देखेंगे। अपने दोषों को देखेंगे और निकालेंगे, और अपने बंधन को काटेंगे ऐसी मेरी बुद्धि कब होगी, यह सोचना है।

दोहा-74

इन्द्र भये धनपति भये, भये शत्रु के साल।
कल्प जिये तौऊ गये, अन्त काल के गाल॥

कोई इन्द्र हो जाय, धनपति–कुबेर हो जाय, और **भये शत्रु के साल,** शत्रु को पीड़ा देने वाला हो जाय, अनेक दुश्मनों पर विजय प्राप्त कर एकछत्र राज्य स्थापित कर ले, और एक कल्प तक जीये। एक कल्प अर्थात चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक इस पृथ्वी पर बना रहे। तो भी क्या होगा **तौऊ गये, अंत काल के गाल,** काल के गाल में जाना है। कल्प भर रहने के बाद, जब जाने का समय होगा, तब भी लगेगा कि अभी आये और जा रहे हैं। इसलिए यहां रहने का कोई अहंकार नहीं करना चाहिए। यहां पर जितने क्षण हैं, उतने क्षण आत्मद्रष्टा बनकर रहना चाहिए, अपने को देखने की चिंता होनी चाहिए, अपने दोषों को देखने और निकालने की चिंता होनी चाहिए। वैसे सौ वर्ष के नीचे–ऊंचे ही सब मरते हैं।

दोहा–75

मन विरक्त हरि भक्ति युत, संगी वन तृण डाभ।
याहू से कछु और है, परम अर्थ को लाभ?॥

मन विषयों से विरक्त हो और हरि अर्थात गुरु की भक्ति में लगा हो, तथा वन के डाभ, तृण साथी हों, क्या इससे भी बढ़कर कुछ परमार्थ का लाभ होगा? सत्संगत और वैराग्य हो, फिर क्या पूछना। वैराग्य में भी कुछ ऐसी बातें हैं, जो हमारे मन में पिनक उत्पन्न कर देती हैं। लेकिन व्यवहार में आने पर पता चलता है कि क्या करना चाहिए, कैसे होना चाहिए। कितने साधक उड़ान की बातें सोचते हैं कि मैं ऐसा चाहता हूं, ऐसे भजन करूं, अकेले रहूं और बस, भजन करता रहूं। अरे! तुम अकेले रहोगे तो भोजन की जरूरत पड़ेगी, कपड़े की जरूरत पड़ेगी, रहने के लिए छाया की जरूरत पड़ेगी। और भी अनेक जरूरतें हैं, तो तुम अकेले कैसे रहोगे? तुम्हें भिक्षाटन करना पड़ेगा। वहां तुम्हें ऊंच–नीच सहना पड़ेगा। तकलीफ होगी शरीर में तो उसको सहना पड़ेगा। रोग–व्याधि हो जायेगी, तो उसको सहना पड़ेगा। उस समय आश्रय की आवश्यकता होगी।

ऐसे नंगे साधु को मैं देखा हूं, जिसको उसके भक्त डॉक्टर के पास ले गये थे। वहां से जब लौटे तब मेरे पास आये। वे साधु नवजवान थे, और नंगे थे। कुछ भी नहीं पहने थे। हिन्दू संत थे, लेकिन नंगे थे। उनको

जलोदर रोग हो गया था, तब वे गृहस्थों में आये। फिर एक भक्त चिकित्सा कराने लगा। इसलिए पिनक छोड़ देना चाहिए। मध्यवर्ती रहना है। साधु-संगत में रहना है, क्योंकि असाधुसंगति से दुख है। इसलिए सदैव साधु संगत में रहना और भक्ति-भावना, वैराग्य-भावना, विनम्रता, निजदोष दर्शन तथा अपने कल्याण में तत्परता यही कल्याण का पथ है।

दोहा-76

ब्रह्म अखण्डानन्द पद, सुमिरत क्यों न निशंक।
जाके छिन संसर्ग से, लगत लोकपति रंक॥

ऐ मन! ब्रह्म अखण्डानंद पद का निशंक होकर स्मरण क्यों नहीं करता। जिसके क्षणिक स्मरण मात्र से जो सुख होता है उसके सामने इन्द्र और ब्रह्मा का सुख भी तुच्छ है।

ब्रह्म शब्द बड़ा प्राचीन है। ब्रह्म का मतलब बड़ा होता है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' इसका दो ढंग से अर्थ होता है। पहला अर्थ जो बढ़ता रहे वह ब्रह्म, और दूसरा अर्थ बृहत, बड़ा होने से ब्रह्म। मूल रूप में आग को ऋषियों ने ब्रह्म माना था। आग थोड़ी जलाओ तो वह बढ़ती जाती है। उसके पश्चात आत्मा को ब्रह्म कहा गया, फिर अच्छा को ब्रह्म कहा गया। 'ब्रह्म बिहार' महात्मा बुद्ध ने कहा। 'ब्रह्म बिहार' मतलब श्रेष्ठ विहार। 'जलं ब्रह्म', 'अन्नं ब्रह्म' श्रुतियों में कहा गया। जल और अन्न की महत्ता है इसलिए उसको ब्रह्म कहा गया। किसी भी अच्छी चीज को ब्रह्म कहने का पहले रस्म था। सर्वोपरि ब्रह्म आत्मा ही है। मनुष्य का अस्तित्व बोध ही ब्रह्म है। तुम अपने आप ब्रह्म हो। सारी कामनाओं, कुविचारों और कुवासनाओं को छोड़कर अखण्ड ब्रह्मानंद पद का स्मरण करो यानी निजस्वरूप का स्मरण करो, वही उत्तम है। उसके क्षणिक संपर्क से लोकपद भी रंक के समान लगता है। सारी कुचालों, कुसंस्कारों को छोड़कर जो अपने स्वरूप में स्थित होता है, दुनिया के भोगैश्वर्य उसके लिए किस खेत की मूली हैं! क्या उसके मन में उसके लिए आकर्षण रहेगा? बिलकुल नहीं! इसलिए अपने ब्रह्म अखण्डानंद पद में, निजस्वरूप में स्थित हों।

कुण्डलिया-77

फांद्यो ते आकाश को पठ्यो ते पाताल।
दशों दिशा में तू फिर्‌यो ऐसी चंचल चाल॥
ऐसी चंचल चाल इतै कबहूँ नहिं आयो।
बुद्धि सदन को पाय छिनहु ना अंग छुवायो॥
देख्यो नहिं निजरूप कूप अमृत का छायो।
ऐ रे मन मति मूढ़! क्यों ना भव वारिध फांद्यो॥

फांद्यो ते आकाश को पठ्यो ते पाताल। ऐ चंचल चित्त! तू आकाश में उड़ा और पाताल में गया। दसों दिशाओं में तू मुझको भटकाता रहा, लेकिन स्थिति की तरफ तू नहीं आया। निज दोष निवृत्ति की तरफ तू नहीं आया; अपने जीवन को मांजने और धोने की तरफ तू नहीं आया। तू क्यों भोगों की कामना करता रहा? क्या कल्याण के लिए ध्यान दिया? क्या तूने आत्मचिंतन किया? पराये दोषों को तू जितना देखता रहा, क्या उसका एक हिस्सा अपने दोषों को देखा? अपना स्वरूप अमृत का कूप है। निजस्वरूपज्ञान, निजस्वरूप स्थिति अमृत का सागर है। लेकिन उसका दर्शन तू नहीं किया। उस अमृत जल का पान नहीं किया। ऐ मूढ़ मन! तू संसार-सागर को क्यों नहीं तरता है? तू संसार- सागर में भटकना छोड़ और निजस्वरूप के अमृत कूप का जल-पान कर, संसार-सागर को तैर जा!

कुण्डलिया-78

वे ही निशि वे ही दिवस वे ही तिथि वे वार।
वे उद्यम वे ही क्रिया वे ही विषय विकार॥
वे ही विषय विकार सुनत देखत अरु सूंघत।
वे ही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊंघत॥
महा निलज ये जीव भोग में भयो विदेही।
अजहूँ पलटत नाहिं कढ़त गुण वे के वे ही॥

वही रात है, वही दिन है, वही तिथि है, वही उद्यम है, वही क्रिया और वही विषय विकार है। वही रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श को आदमी रोज देखता, सुनता, सूंघता, चखता और स्पर्श करता है। वही भोजन और भूख

है। वैसे ही खाना, पीना, ऊंघना और सो जाना है। यह जीव इन्हीं भोगों में पड़कर सुध-बुध खो दिया है, और महा निर्लज्ज हो गया है। आज भी वह अपने को बदल नहीं रहा है। जैसे, दस, बीस, चालीस वर्ष के पूर्व था, वैसे अब भी है। यह कितना दुर्भाग्य है?

साधक वह है, जिसका जीवन शुभ की तरफ बढ़ता जाये। यही उसकी उन्नति है। अगर दोष बढ़ते गये तो विनाश है। सावधान न रहे तो जीवन्मुक्त भी भटक सकता है। एक बार मैंने सद्गुरु विशाल साहेब से पूछा था कि क्या साहेब! जीवन्मुक्त भी भटक सकता है। उन्होंने कहा था–जीवन्मुक्त क्यों भटकेगा। उस दशा के समान तो कोई स्थिति ही नहीं है, तब क्यों भटकेगा? लेकिन अगर वह जिस रहनी से उस दशा में है, उस रहनी को ढील करने लगे, तो भटक जायेगा। इसलिए कहा है–

जब लग है यह देह, प्रारब्ध भुलावन पूर्व की।
तब लग शत्रु मनेह, विनय करौं यहि स्वार्थ हित॥

(विशालवचनामृत)

यहां अनुकूलता है, प्रतिकूलता है, प्रशंसक हैं, निंदक हैं, भलाई-बुराई करने वाले हैं। कहीं किसी प्रशंसा में फूल गया, और कहीं किसी के बुराई करने से पचक गया, राग-द्वेष करने लगा, तो भटक गया। इसलिए जब तक प्रारब्ध शरीर है, तब तक सावधान रहने की जरूरत है।

अजहूँ पलटत नाहिं कढ़त गुण वे के वे ही। आज भी तू पलट नहीं रहा है, बदल नहीं रहा है। वही अवगुण तेरे में रह-रहकर उभरते हैं, वही गंदी आदतें उभरती हैं। वही दिन है, वही रात है, वही तिथि, वही उद्यम-क्रिया और विषय-विकार हैं। वही सारी चीजें हैं। वही देखता, सुनता, सूघंता, चखता और स्पर्श करता है। क्या नयी चीज है? वही-वही होने पर भी तू उसी में भटकता है। इसलिए बाहर का आकर्षण छोड़ और अपने को समझ, अपने को निखार, अपने को शुद्ध कर, अपने में शांति ले।

छप्पय-79

पृथ्वी परम पुनीत पलंग ताको मन मान्यो।

तकिया अपनो हाथ गगन को तम्बू तान्यो॥
सोहत चन्द्र चिराग बीजना करत दशों दिस।
बनिता अपनी वृत्ति संग ही रहत दिवस निशि॥
अतुल अपार सम्पत्ति सहित सोहत हैं सुख में मगन।
मुनि राज महा नृप राज ज्यों पौढ़े देखे हम दृगन॥

जिन्होंने पृथ्वी को पलंग मान लिया, अपने हाथ को तकिया बना लिया, आकाश को तंबू मान लिया, चन्द्रमा का चिराग बना लिया, दसों दिशाओं को पंखा झलने वाले नौकर बना लिया, स्वरूपस्थिति की वृत्ति को अपनी पत्नी बना ली, जो रात-दिन साथ में रहती है। इस प्रकार अतुल और अपार संपत्ति के सहित सुख में मगन ऐसे मुनिराज महासम्राटों को मैंने अपनी आंखों से देखा है।

इन सारे अलंकारों में निश्ंचितता और वैराग्य का ध्वनन है। निश्ंचित, निष्फिक्र रहे, भोगों की कामना वाला न हो, वह धरती पर धन्य है।

सोरठा-80

कहा विषय को भोग, परम भोग इक और है।
जाके होत संयोग, नीरस लागत इन्द्र पद॥

ये विषयों के भोग किस खेत की मूली हैं। परम भोग, आत्मस्थिति का भोग एक और है। उसके मिलने पर इन्द्र का भोग भी नीरस लगता है। ये विषयों के भोग तो इन्द्रिय और मन को चंचल करते हैं, उत्तेजित करते हैं, जिससे आदमी का पतन होता है।

छप्पय-81

श्रुति अरु स्मृति पुरान पढ़े विस्तार सहित जिन।
साधे सब शुभ कर्म स्वर्ग को थान लह्यो तिन॥
कहत तहाँ हूँ चाल काल को ख्याल भयंकर।
ब्रह्मा और सुरेश सबन को जन्म मरण डर॥
ये बनिक वृत्ति देखी सकल अनन्त नहीं कछु काम की।
अद्वैत ब्रह्म को ज्ञान यह एक ठौर आराम की॥

वेद, श्रुति, स्मृति, पुरान, धर्मशास्त्र आदि पढ़ा और शुभ कर्म, दान-

पुण्य आदि किया। इनके फल में स्वर्ग मिल गया तो **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति।** पुण्य के क्षीण होते ही स्वर्ग की अवधि समाप्त हो जाती है और वहां से व्यक्ति मृत्युलोक में लौट आता है। इस प्रकार स्वर्ग की अवधि क्षीण होने पर ब्रह्मा और इन्द्र को भी मरने का डर है। मर कर फिर उनको जन्मना है। जन्म-मरण का डर उन्हें भी लगा हुआ है। इसलिए वैराग्यवान कहते हैं, यह कर्मकाण्ड वणिकवृत्ति है। बनिया खरीदता और बेचता है वैसे कर्मकाण्ड हैं कि पुण्य करो और स्वर्ग पाओ। यह अनंत नहीं है, इसलिए कुछ काम का नहीं है। केवल एक ही आराम की जगह है, वह अद्वैत ब्रह्म की स्थिति है।

अद्वैत मतलब अकेला, ब्रह्म मतलब श्रेष्ठ, तो यह जो अपना आत्मअस्तित्व है, आत्मस्वरूप है, यही ब्रह्म है। वासनाओं को छोड़ देने पर तो जीव अकेला है ही। अपनी असंगता का बोध होना, यही आराम की जगह है। लेकिन समझ लो तो यह असंगता का बोध सत्संग में संभव है। प्रवृत्ति में निवृत्ति है और निवृत्ति में प्रवृत्ति है। नये साधक को ध्यान की अपेक्षा अध्ययन ज्यादा करना चाहिए। अध्ययन से चिंतन बढ़ेगा, वैराग्य बढ़ेगा। जो कोई प्रवृत्ति नहीं लेता है, सोचने के लिए उसको कई चीजें मिलती हैं। जंगल में जाकर बैठो, तो सोचने की बहुत चीजें मिलेंगी। एक गिलहरी दौड़ रही है, एक बंदर कूदा, इसी को वह घंटों सोचता रहेगा। तो मन के बिना स्ववश हुए सोचने की चीजें मिलती रहती हैं। प्रवृत्ति लेकर सेवा करते हुए, अगर गुणग्राह्य दृष्टि है तो अपने को मांजते-मांजते आदमी मन को स्ववश कर लेता है। आदमी अकेले बैठ जायेगा, कैसे उसका बेड़ा पार होगा? एक दिन बैठकर कोई देख ले! अकेला बैठा रहे तो वह कितने समय सही दशा में रहेगा, और कितने समय उसकी वासनाएं उसे भटकायेंगी। दिन भर जो-जो विचार आये उसे एक कागज पर लिखता रहे तो उस कागज को वह किसी को दिखा नहीं पायेगा। एक घंटे का लिखा हुआ कागज किसी को दिखा नहीं पायेगा, तो दिन-भर का क्या दिखा पायेगा? इसलिए भक्ति की बड़ी जरूरत है, सत्संग की बड़ी जरूरत है, संत-गुरु का आधार लेकर रहने की जरूरत है। इस प्रवृत्ति में निवृत्ति है।

छप्पय-82

जल की तरल तरंग जात ज्यों जात आयु यह।

यौवन हूँ दिन चार चटक की चोंप चाह चह॥
ज्यों दामिन परकाश भोग सब जानहु तैसे।
तैसे ही यह देह अथिर स्थिर ह्वै कैसे?
सुनिए मेरे चित्त तू! होहु ब्रह्म में लीन गति।
संसार अपार समुद्र तर करि नौका निज ज्ञान रति॥

जैसे जल की तरंग तरल और चंचल है, वैसे आयु भी भागी जा रही है। समुद्र के किनारे जाकर देखो, हा–हा–हा–हा होता रहता है। हमारी आयु भी इसी प्रकार भागी जा रही है। जवानी के सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य बहुत थोड़े दिनों में समाप्त हो जाते हैं। जैसे बिजली का प्रकाश सावन की रात को क्षणमात्र के लिए आलोकित कर देता है, लेकिन तुरंत बुझ जाता है और घोर अंधकार हो जाता है। संसार के सारे भोग ऐसे हैं, सारे संयोग ऐसे हैं। यह देह चंचल है। आजकल में लुप्त हो जायेगी। यह स्थिर कैसे हो सकती है? इसलिए हे मेरे मन! तू आत्मा में लीन हो। यह निजस्वरूप ही श्रेष्ठ है, ब्रह्म है, सत्यपद है। वासनाओं को छोड़ और अपने स्वरूप में स्थित हो। मन के संसार–सागर से पार हो। आत्मज्ञान की नाव पर बैठकर संसार–सागर से पार हो जा। यही सार है, संसार की सारी चीजें क्षणभंगुर हैं, असार हैं।

दोहा–83

ज्यों सफरी को फिरत लख, सागर करत न क्षोभ।
अण्डा ले ब्रह्माण्ड का, त्यों संतन को लोभ॥

सफरी छोटी मछली होती है। उसके उछलने–कूदने से समुद्र में क्षोभ नहीं होता, इसी प्रकार पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक की संपत्ति हो, उसके लिए संत के मन में लोभ नहीं होता।

दोहा–84

काम अन्ध जबही भयौ, तिय देख्यौ सब ठौर।
अब विवेक अंजन कियौ, लख्यौ अलख सिर मौर॥

जब कामान्ध हुआ, तो मैंने सर्वत्र स्त्री–स्त्री देखी। लेकिन जब विवेक

का आंजन लगाया, तब जो सत्य का द्रष्टा है उस अदृश्य निजस्वरूप को समझा जो सर्वोच्च है। उसमें स्थित होकर समर्थ हो गया।

छप्पय-८५

चन्द्र चाँदनी रम्य रम्य वन भूमि पुहुप युत।
त्यों ही अति रमणीक मित्र मिलबो है अद्भुत॥
बनिता के मृदु बोल महा रमणीक विराजत।
मानिन मुख रमणीक दृगन आँसुन झर छाजत॥
ये कहे परम रमणीक सब सब कोऊ मन में चहत।
पर इन विनाश जब देखिए तब इनमें कछु ना रहत॥

वन की भूमि है, रात का समय है, स्वच्छ चांदनी है। रमणीक प्यारे मित्र मिले हुए हैं, यह कितना अद्भुत, कितना आनंदमय लगता है। सुन्दरी युवती पत्नी के मीठे वचन मन को हर लेते हैं। युवती पत्नी क्रुद्ध होकर जब अभिमान से आंसू गिराने लगती है, तो यह दृश्य मन को मोह लेता है। ये सब प्यारे लगते हैं। विषयी मन यह सब चाहता है। लेकिन जब इनके विनाश को देखते हैं, तब लगता है कि इनमें कुछ नहीं है। युवती पत्नी कुछ दिनों में बूढ़ी हो गयी, अब उसको देखने का भी मन नहीं करता है। जो एक दिन स्वर्ग लगती थी, अब वह नरक लगती है। सब कुछ थोड़े दिनों में कितना विकृत हो जाता है। वन भी कट जाते हैं। जो वन रात में सौम्य लगते हैं, मोहक लगते हैं, वही दोपहर में खराब लगते हैं। प्रातः का दृश्य कितना सुहावना होता है और दोपहर धूल और बवंडरों से भरा हुआ कितना अनसुहाता लगता है। शाम की छटा मनोहर लगती है। लेकिन रात में जब अंधियारी हो जाती है, तब वही भय देती है। यहां सब कुछ क्षण-क्षण बदलता है। किसी चीज में मोह करने लायक नहीं है। जिसने कहीं कोई मोह किया उसने अपने आप का वध किया। वह प्रेम कैसा जो एक से हट कर दूसरे में जुड़ जाये। अगर कोई स्वरूपस्थिति में प्रेम करता है, तो उसका किसी प्राणी-पदार्थ में मोह कैसे हो सकता है!

सोरठा-८६

उञ्छ वृत्ति गत मान, समदृष्टि इच्छा रहित।

करत तपस्वी ध्यान, कन्था को आसन किये॥

तपस्वी सहज प्राप्त भोजन कर लिया, अभिमान से रहित है, अनुकूल–प्रतिकूल में समता की दृष्टि है, संसार की सारी इच्छाओं से रहित है, गुदड़ी बिछाकर आसन जमा दिया और ध्यान में लीन है।

उञ्छवृत्ति है अन्न के दाने बीनकर और उसे पकाकर खाना, और शिलवृत्ति है खेत से फसल उठ जाने के बाद पड़ी हुई अन्न की बालियों को चुनकर उससे गुजर करना। वानप्रस्थियों तथा तपस्वियों के लिए ये नियम थे।

खास बात है, सहज प्राप्त स्वच्छ, सुपाच्य भोजन संतुलित ढंग से ग्रहण करना और अहंकार तथा इच्छाओं से रहित होकर समता से जीवन व्यतीत करना और आत्मलीनता का अभ्यास करना।

छप्पय–87

अरी मेदनी मात तात मारुत सुन ऐ रे।
तेज–सखा जल–भ्रात व्योम–बन्धू सुन मेरे॥
तुमको करत प्रणाम हाथ तुम आगे जोरत।
तुम्हरे ही सत्संग सुकृत को सिंधु झकोरत॥
अज्ञानजनित यह मोह हू मिट्यो तिहारे संग सों।
आनन्द अखण्डानन्द को छाय रह्यो रस संग सों॥

ऐ पृथ्वी माता, ऐ हवा पिता, ऐ आग मित्र, ऐ जल सखा और ऐ आकाश बंधु, तुम्हारे सामने हम हाथ जोड़ते हैं। तुम्हें प्रणाम करते हैं। तुम्हारे द्वारा संगठित इस शरीर में हमने बोध–वैराग्य का काम करके संसार–सागर से तरने की साधना की। इस शरीर से हम उपकृत हैं। क्योंकि शरीर मिट्टी, पानी, आग, हवा से बना है। इसलिए ऐ जड़तत्त्वो! तुम मानो मेरे माता, पिता, मित्र, सखा, भाई, बंधु हो। तुमने शरीर संगठित करके साधना की एक अच्छी भूमिका उपस्थित की। हमने सारी वासनाओं का त्याग करके अपना कल्याण कर लिया। तुम्हारे संग से अज्ञानजनित मोह को मिटा दिया। अब तो हरदम अखण्ड आनंद का रस छाया है। अब हम तुमसे सदा के लिए बिदा लेते हैं। तुम्हारा उपकार मानते हैं। यह उच्च

भावना जिसके मन में हो, उसे कहां मलिनता आ सकती है? जिस साधक के मन में मलिनता आती है, वह अपनी दशा में नहीं रहता है। उसके लिए वह काम नहीं करता है। साधक जहां रहे अपना काम करे। भंडारी भंडार में है तो चेष्टा से काम करे, दौड़-दौड़ कर करे। **बिन शौक फकीरी मिट्टी है।** बिना शौक के कोई काम नहीं होता है। और शौक से कोई काम करो तो अच्छा होता है। झाड़ू लगाओ तो शौक से लगाओ, बरतन मांजो तो शौक से मांजो, जो सेवा हो शौक से करो। नाली साफ करना हो तो शौक से करो। किसी की टट्टी फेंकना है तो शौक से फेंको। तत्पर होकर करो। यदि तत्पर होकर करोगे तो उसके फल में चित्त शुद्ध होगा। मोक्ष निर्मलता, निर्बंधता है। मन से सारा कषाय धुल जाना, सारे विकारों का धुल जाना उच्च स्थिति है।

साधू को है काम यह, बझै न तन के कोट।
रैन दिवस संग्राम करि, मेटि वासना खोट॥

(विशालवचनामृत)

इस शरीर के किला में फंसे न, रात-दिन संग्राम करके खोटी वासनाओं को मिटा दे। हमारे आगे-पीछे वालों में कोई दोष है, तो स्नेह से, हमदर्दी से सम्हालने के लिए कह दें तो अच्छा है। किसी की निंदा-बुराई न करके उसी से कह दें। जहां वश न चले वहां चुप रहें, अपना काम करें। अपना काम कर रहे हैं मानो सबके लिए कर रहे हैं। जो समझ पायेंगे, वे देखकर चलेंगे। जो नहीं सुधारेगा, उसका काम नहीं होगा। हम आये हैं यहां अपना काम करने के लिए, अपने को सुधारने के लिए। तो जो अपने आप को सुधारेगा, उसका चित्त निर्मल हो जायेगा। वही संसार से विदा मांग सकेगा। इतना साहस उसका स्वभाव बन जायेगा, उसकी स्थिति बन जायेगा और वह कहेगा कि ऐ संसार, ऐ देह के जड़ तत्त्व! सदा के लिए तुमसे निवृत्त हो रहा हूं, तुम्हारा बहुत-बहुत उपकार है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

24 सितंबर, 1995 ई०)

छठां प्रवचन

छप्पय-88

जौ लौं देह निरोग और जौ लौं न जरा तन।
अरु जौं लौं बलवान आयु अरु इन्द्रिन के गन॥
तौ लौं निज कल्याण करन को यत्न विचारत।
वह पंडित वह धीर वीर जो प्रथम सम्हारत॥
फिर होत कहा जर-जर भये जप तप संयम नहिं बनत।
भव काम उठ्यो निज भवन जब तब क्यों कर कूपहिं खनत॥

जब तक शरीर निरोग है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियां सबल हैं, तब तक कल्याण करने के लिए यत्न कर लो। वही पंडित है, वही धीर है, वही वीर है, जो पहले जीवन को सम्हाल ले। जब जर्जर हो जायेगा, तब क्या बनेगा? तब जप, तप, संयम कुछ नहीं कर पायेगा। जब घर में आग लगी तब कोई कुआं खोदे, तो क्या फायदा होगा?

अभी शरीर स्वस्थ है, इंद्रियां स्वस्थ हैं, बुढ़ापा दूर है, परंतु मन राग-द्वेष में घूम रहा है, और कामवासना, क्रोधवासना, लोभ-वासना, ईर्ष्या, परनिंदा और चिंता-विकलता के कीड़े मन में किलबिला रहे हैं। तब फिर कब कल्याण करोगे? क्षण-क्षण सुनहला समय जा रहा है। लेकिन आदमी इतना बदहवास है कि उस पर ध्यान नहीं देता। जान भी जाते हैं, सत्संग भी प्राप्त कर लेते हैं, तब भी ध्यान नहीं देते हैं। **ई मन बनिया बानि न छोड़े।** यह बनिया मन अपनी गंदी आदत नहीं छोड़ता। फिर वही गंदी आदत, वही ईर्ष्या-द्वेष, वही राग, वही पर निंदा, वही क्रोध-काम, वही मत्सरता, वही देहाभिमान को चिपकाये रखता है। जो हम लोगों के क्षण-क्षण बीत रहे हैं, निर्मल चित्त रहकर बिताने लायक है। सुबह से शाम तक हमारे मन में कोई विकार न आये, यह हमारी सफलता है। अगर हम विकारों में सड़ते हैं, तो हमारे पास चाहे जो कुछ हो जाय, हम सुखी नहीं होंगे। आज-कल में यह शरीर मर जायेगा। यह घमण्ड बेकार है कि **सब**

मर जायं पै हम न मरिबै। मरना सबको है। लेकिन क्या काम करना चाहिए और क्या कर रहे हैं? चित्त निर्मल करना चाहिए तो चित्त को गंदा कर रहे हैं। जिसके लिए गंदा करते हैं, क्या वह साथी होगा। इसलिए जब तक स्वस्थ शरीर है, अपने को सम्हालो। फिर आगे सम्हलने का कोई चांस नहीं रह जायेगा। आज ही जागो!

दोहा-89

विद्या पढ़ी न रिपु दले, रह्यो न नारि समीप।
यौवन यह यों ही गयो, ज्यों सूने गृह दीप॥

भर्तृहरि जी राजा थे, नीति निपुण थे, और वे पूर्व में घोर सांसारिक थे। फिर वैराग्यवान हुए। उन्होंने पहले नीतिशतक और शृंगार शतक लिखा। जब विरक्त हुए तब वैराग्य शतक लिखा। इसमें बीच-बीच में ऐसी बात कह दिये हैं जो साधारण है। वे कहते हैं न विद्या पढ़ी, न दुश्मनों को मारा और न स्त्री के साथ रहा। जवानी व्यर्थ चली गयी; जैसे सूने घर में दीपक। घर ही सूना-साना है तो दीपक जल कर क्या करे। जब दीपक के प्रकाश में कोई काम करने वाला हो तब दीपक का मूल्य है।

विद्या पढ़ना, दुश्मनों को मारना, स्त्री संगत करना, ये सब सांसारिक बातें हैं। कल्याण के लिए तो न ज्यादा विद्या पढ़ने की जरूरत है, और न दुश्मनों को मारने की। दुश्मन तो अपने विकारों के अलावा कोई है ही नहीं। और कल्याणार्थी को नारी के समीप रहने का कोई प्रसंग ही नहीं है। यह तो संसारी गति है। मनुष्य अपने को रोक नहीं पाता है, इसलिए नर नारी की संगत करता है और नारी नर की संगत करती है। यह कल्याण की बात नहीं है। कल्याण की बात तो यह है कि यथार्थ सद्गुरु की शरण लेकर अपने स्वरूप को समझे, बंधनों को समझे, उसे काटे और कल्याण करे।

दोहा-90

ज्ञान घटावै मान मद, ज्ञानहिं देत बढ़ाय।
रहसि मुक्ति पावै यती, कामी रति पल्टाय॥ 90 ॥[1]

---

1. ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं, केषांचिदेतन्मदमानकारणम्।
स्थानं विविक्तं यतिनां विमुक्तये कामातुराणामतिकामकारणम् ॥90॥

ज्ञान घटावै मान मद। ज्ञान का जब अच्छा उपयोग होता है, तब हमारे अंदर के मान और मद दूर होते हैं। अगर हम अपात्र हैं तो हमारा ज्ञान, मान-मद को बढ़ा देता है। सुपात्र में जब वही ज्ञान आता है तब उसका मान घटता है, मद घटता है, विकार घटता है, किंतु अपात्र में ज्ञान आता है, तो वह घमण्डी हो जाता है।

रहसि मुक्ति पावै यती। रहसि, रहस नाम एकांत, यति अर्थात त्यागी जब एकांत में जाता है तो मुक्ति पाता है। वह विचारों को छोड़कर आत्मलीन हो जाता है। और **कामी रति पलटाय।** कामी एकांत में जाता है तो उलट कर वह कामवासना में रत हो जाता है। पात्रता के भिन्नत्व से एक ही वस्तु का उपभोग भिन्न-भिन्न है।

छप्पय-91

मन के मनही माहि मनोरथ वृद्ध भये सब।
निज अंगन में नाश भयो वह यौवन हू अब॥
विद्या ह्वै गई बाँझ बूझवारे नहिं दीखत।
दौर्‍यो आवत काल कोप करि दसनन पीसत॥
कबहुँ न पूजे प्रीति सों चक्रपाणि प्रभु के चरण।
भवबंधन काटे कौन अब अजहूँ गहु रे हरिशरण॥

हमारे मन की सारी इच्छाएं बूढ़ी हो गयीं लेकिन पूरी नहीं हुईं। शरीर अपने अंगों में ही बूढ़ा होता गया। इस शरीर के अंदर ही जवानी गल के खत्म हो गयी। हमारी विद्या बंध्या हो गयी। कोई उसे समझने वाला नहीं मिलता है। जो कुछ मैं जानता हूं, उसे कोई आकर आदरपूर्वक सुनने को तैयार नहीं है। और काल हमारी तरफ रात-दिन दांत पीसते हुए दौड़ा आ रहा है। ऐ मूर्ख मन! आज भी तूने चक्रपाणि प्रभु के चरणों की पूजा-आराधना नहीं की। कहो कौन तेरा बंधन काटेगा? इसलिए आज ही तू हरि की शरण ग्रहण कर।

यहां भर्तृहरि जी ने विष्णु भगवान की याद की है। वस्तुतः सद्गुरु ही चक्रपाणि हरि है, और वह हमें कल्याण का रास्ता दिखा सकता है। अन्य हरि तो केवल काल्पनिक आदर्श मात्र है। जो वर्तमान में बोध-वैराग्य

संपन्न पुरुष हैं, उन्हीं की छत्रछाया में रहने से, उन्हीं के विचार सुनने से हमारा कीचड़ भरा मन निर्मल हो सकता है। लेकिन तब होगा जब विनम्रतापूर्वक यह भाव आये। अगर साधक अपने मन में गदंगी लेकर बैठा है तो विवेकवान के पास रहकर भी कुछ फल नहीं होगा। संसार की इच्छाएं किसी की पूरी नहीं होतीं, यह पक्का है। जवानी का कितना घमण्ड करो, थोड़े दिनों में वह रह नहीं जायेगी। इसलिए सब तरफ से सिमटकर अपने आत्मा का कल्याण करो!

छप्पय-92

प्यास लगे जब पान करत शीतल सुमिष्ट जल।
भूख लगे तब खात भात घृत दूध और फल॥
बढ़त काम की आग तबहिं नव वधू संग रति।
ऐसे करत विलास होत विपरीत दैव गति॥
सब जीव जगत के दीन भरत खात पियत भोगहु करत।
ये महा रोग तीनों प्रबल बिना मिटाये नहिं मिटत॥

आदमी को जब प्यास लगती है, तब वह शीतल मीठा जल पीता है। भूख लगने पर जो मिलता है आहार ग्रहण करता है। जब काम की आग बढ़ती है, तब वह स्त्री की संगत करता है, या स्त्री है तो पुरुष की संगत करती है। इस प्रकार विलास करते-करते दैव की गति विपरीत हो जाती है। दैव यानी कर्म। जो कुछ कर्म हमने बनाया है, वही दैव है। और उसकी गति विपरीत हो जाती है। हम बंधनों में जकड़कर संसार में रोते हैं। संसार के सारे जीवों की यही दशा है। वे खाते हैं, पीते हैं और भोग-विलास करते हैं। ये तीनों महारोग हैं, जो बिना मिटाये नहीं मिटते।

खाना-पीना तो शरीर के लिए जरूरी है। खाने-पीने में कोई लालसा न हो, किन्तु शुद्ध सात्विक, सुपाच्य देखकर थोड़ा खा ले। काम-भोग तो बिलकुल दुखदायी है। कल्याणार्थियों को चाहिए कि उसका सर्वथा त्याग करें। गृहस्थों को भी संतान के बाद ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। संतान हो गयी फिर अपने को उस कीचड़ में डालने से क्या फायदा, जिसका फल ही उद्वेग है, क्षीणता और मलिनता है, पछतावा है, और मन-इन्द्रियों को

निचोड़ना है। यह बेवकूफी नहीं तो क्या है? कोई दस मन दूध मथकर मक्खन निकाले और ले जाकर नाली में डाल दे, तो लोग उसको कितना पागल कहेंगे। वही काम लोग कर रहे हैं। खा-पीकर जो शरीर में शक्ति इकट्ठी हो उसको नष्ट कर देना, कितनी बड़ी भूल है। इसलिए काम-वासना, काम-क्रिया, काम-भोग का पूर्ण त्याग होना चाहिए।

दोहा-93

नर सेवा तजि ब्रह्म भजि, गुरु चरणन चित लाय।
कब गंगा तट ध्यान धर, पूजोंगो शिव पाय॥

संसारियों की सेवा छोड़कर गुरु और शिव के चरणों में लगकर कब गंगा के तट पर बैठकर आत्मलीन होऊंगा?

पैसा कमाना है तो सेवा करना ही है। जिसके यहां रहे, वहां विनम्रता से सेवा करना चाहिए। अहंकार नहीं होना चाहिए कि हम उच्च वर्ण के हैं और जिसके यहां हैं वह निम्न वर्ण का है। सब मनुष्य हैं, जाति-वर्ण से क्या फर्क पड़ता है। उच्च वर्ण के बनो तो अपने घर बैठे रहो! एक ब्राह्मण कहे जाने वाले का लड़का घर से भागा और कहीं दूर चला गया। उसके मित्र ने एक सेठ की दुकान में उसकी नौकरी लगवा दी। सेठ सुबह आया, दुकान खोला और उससे कहा—पंडित जी, झाड़ू लो और दुकान को बुहार दो। उसको बहुत बुरा लगा। सेठ ने उसे पंडित जी इसलिए कहा क्योंकि रस्म है। जिसका नाम ब्राह्मण है, उसे लोग पंडित कह देते हैं। तो वह नौकरी छोड़कर घर भाग आया। जब तुम नौकरी करने गये हो तो झाड़ू लगा दो, कचड़ा फेंक दो, मालिक जो कहे सो करो। तो जहां रहे वहां सेवा करना चाहिए। किन्तु यहां का भाव कुछ दूसरा है। जिसको वैराग्य है वह क्यों किसी सेठ-साहूकार की सेवा करे। वह तो किसी राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार की सेवा छोड़कर, गुरु के चरणों में चित्त लगाकर उनकी सेवा करेगा, गंगा के किनारे ध्यान धारण करेगा, और आत्मस्थित होगा। आत्मा ही शिव है और आत्मस्थिति ही शिव की पूजा है।

छप्पय-94

बसैं गुहा गिरि शुचित शिला सैय्या मनमानी।
वृक्ष वकल के वसन स्वच्छ सुरसरि का पानी॥
बन मृग जिनके मित्र वृक्ष फल भोजन जिनके।
विद्या जिनकी नारि नहीं सुरपति सम तिनके॥
ते लगत ईश सम मनुज मोहि तनु शुचि ऐसे जग भये।
जे पर सेवा के काज को हाथ नाहिं जोरत नये॥

जिन्होंने पवित्र पर्वत की गुफाओं की शिला को अपनी शैय्या बना ली है, वृक्षों की छाल को कपड़ा बना लिया और जो पवित्र गंगा नदी का जल पीता है, वन के पशु जिनके मित्र हैं और वृक्षों के फल भोजन हैं, आत्मविद्या जिनकी पत्नी है और जो निरंतर आत्मज्ञान में रमता है, इंद्र उसके सामने कुछ नहीं है। **ते लगत ईश सम मनुज मोहि तनु शुचि ऐसे जग भये।** वे मनुष्य हमें ईश्वर के समान लगते हैं। जिन्होंने अपने तन-मन को पवित्र कर लिया है और पराये की सेवा में हाथ जोड़कर नहीं जाते हैं। यहां भी वही बात है, रजवाड़ों की सेवा से घृणा की गयी है। भर्तृहरि जी स्वयं पहले राजा थे। वे रजवाड़ों की दुर्दशा जानते थे, इसलिए उनको उनसे बड़ी घृणा हुई। इन कामी-कुचालियों की सेवा में सुबह से उठ कर जाना कितना गर्हित है। किन्तु जो तुम्हारे विकारों को धोते हैं, ऐसे सद्गुरु की शरण में क्यों नहीं जाते हो!

छप्पय-95

सोहत जो शिव शीश जटा सुरसरि की धारा।
बट तरु बल्कल फूल जासु सद्वृत्ति अपारा॥
त्याग सुखद अस गंग कौन ऐसो नर वो है।
परिजन करुणा हीन नारि को आनन जोहै॥
दीर्घ श्वास सो विपति ज्वर जीरण भारी गहतु हैं।
सब विधि दुख की खान अति निर्दय जेहि तिय कहतु हैं॥

शिवजी के सिर की जटा में शोभायमान गंगा आज धरती पर बहती है। उसके तट पर बरगद आदि के वृक्ष लगे होते हैं। एकांत स्वच्छ प्राकृतिक निवास, वृक्षों की छाल के वस्त्र, फूल, फल, कंद आदि का भोजन पुष्कल

निर्वाह की वस्तुएं हैं। ऐसे सुखदायी गंगातट के निवास को छोड़कर कौन समझदार होगा जो स्त्री-पुत्रादि के कठोर तथा करुणाहीन मुंह को देखना चाहेगा। कलह भरे विपत्ति ज्वर के दीर्घ श्वास से पीड़ित सब प्रकार से दुख उत्पन्न करने वाली स्त्री है।

वैराग्यवृत्ति वाले पुरुष को स्त्री दुख की खानि लगती है, तो वैराग्यप्रिय नारी को पुरुष दुख की खानि लगेगा ही। वस्तुतः दुख की खानि तो दैहिक काम-पिपासा तथा संतान की तृष्णा है। आत्मबोध से यह पिपासा तथा तृष्णा मिट जाने पर सारे दुखों का अंत है। वैराग्यवान और लेखक अधिकतम पुरुष हुए हैं इसलिए वे स्त्रियों पर कटाक्ष किये हैं। क्योंकि उनका मन स्त्रियों में बंधता था। स्वयं भर्तृहरि जी अपनी पत्नी पिंगला के दुश्चरित्र से आहत थे। पिंगला पर वे पूर्ण स्नेह रखते थे, और पिंगला घोड़ा-दरोगा से फंसी थी। जब यह परदा खुला, तब उनको वैराग्य हुआ। वे सच्चे वैराग्यवान हुए। ऐसी सब स्त्रियां नहीं होतीं। सब पुरुष भी भ्रष्ट नहीं होते, जो अपनी पत्नी को धोखा देकर परनारी में रत होते हैं। कुल मिलाकर स्त्री-पुरुष कोई हो, उनके मन का विकार ही उनके बंधन हैं। अपनी देह ही बंधन का कारण है। देह में वासना उठने पर ही ये सब होते हैं; इसलिए अपनी देह से सावधान रहे। स्त्री या पुरुष जो कल्याणार्थी हैं, उन्हें तो एक-दूसरे से सदैव सावधान और दूर रहने की जरूरत है। जो गृहस्थ हैं वे भी अपने-पराये सब से सावधान रहें। अपनी आग हो या दूसरे की आग हो, वह छप्पर में जब पड़ेगी तो जलायेगी। इसलिए विरोधी आलम्बन से पूर्ण विरक्त रहें और आत्मचिंतन में रत रहें।

जहां तक गंगातट निवास, जल-फल असन और वल्कल वसन की बात है; इस पिनक से मन वश में नहीं होता है, अपितु वैराग्यवान सद्गुरु-संतों की शरण में रहकर सेवा, स्वाध्याय तथा साधना करते हुए मन वश में होता है। भड़काऊ बातों में साधक न पड़े। गंगातट पर फल-मूल का आहार मिलना आजकल सहज नहीं है। आजकल फल-फूल बाजार से ही खरीदकर लाना पड़ेगा अथवा किसानों के खेत से।

कुण्डलिया-96

काशी में जहँ शिव बसत बैठि तासु उद्यान।
विविधि अशन सम तप नहीं देख्यों उग्र महान॥
देख्यों उग्र महान भीख जहँ सुन्दर भूषण।
खण्ड एक कौपीन बसन बहुमूल्य अदूषण॥
मरणहि मंगल करण मिलै जहँ हर अविनाशी।
को ऐसो विद्वान तजै जो ऐसी काशी॥

काशी में शिव जी रात-दिन बसते हैं। काशी का दूसरा नाम अविमुक्त है। जहां से शिव जी कभी अलग नहीं होते, वह काशी है। वहां के उद्यान में बैठकर अनेक प्रकार का भोजन करना महान तप है। आज भी संन्यासी लोग मधुकरी भिक्षा मांगकर शाम को बाग-फुलवारी में भोजन करते हैं। पुराने मान्यतानुसार भर्तृहरि जी कहते हैं कि काशी की बाग-फुलवारी में भोजन करना महान तप है। वहां भिक्षा करना सुन्दर भूषण है। और कौपीन का एक खण्ड वस्त्र मिल जाये तो वह दूषण रहित कीमती चीज है। **मरणहि मंगल करण।** वहां मरना ही मंगल करण है। क्योंकि मरने पर हरेक को वहां अविनाशी शिव जी मिलते हैं। इसलिए कौन ऐसा विद्वान होगा जो काशी को छोड़ेगा। इसीलिए तो, कितने संन्यासी जो भारत के किसी कोने में रहें, भावना की पिनक आती है तो वे काशी चले आते हैं, और वहीं रहते हैं। धर्मशास्त्रों में तो यहां तक लिखा है कि कोई काशी पहुंचे तो पत्थर से अपने पैरों को कुचल दे, जिससे इच्छा होने पर भी कभी बाहर न जा सके। जब यह लिखा गया तब ट्रेन और बसें नहीं थीं। अब तो टिकट कटाये बैठे और चल दिये। काशी की महिमा का वर्णन बहुत पहले से किया गया है। परन्तु महिमाओं में अतिशयोक्तियां हैं। हां, किसी पवित्र स्थल में जाने से जरूर मन में पवित्र भावना बनती है। लेकिन आदमी जहां रहे वहीं काशी है। अर्थात जहां साधु-संग हो वहीं काशी है। स्वयं विवेक से रहना चाहिए।

छप्पय-97

बैठि पौरिया द्वार छड़ी कर पहरो राखत।
सोवत स्वामि हमार जाहु तुम ऐसो भाषत॥

करिहैं क्रोध अपार लखै, जो तुमको द्वारे।
जाहु विश्वपति द्वार तहाँ नहिं रोकनहारे॥
जहँ निर्दय कटुवादी नहीं अवश्य तहाँ चलि जाइए।
वहँ निर्भय ब्रह्मानंद सुख ब्रह्मानंद वहाँ पाइए॥

ऐ कामनावशी जीव, कहां भटक रहे हो। इन रजवाड़ों के दरवाजे पर क्यों जाते हो। यहां तो छड़ी लेकर दरबान खड़ा होगा। वहां तुम्हें घुसने नहीं देगा और कहेगा हमारे स्वामी सो रहे हैं, अभी जाओ। अगर तुम्हें दरवाजे पर देखेंगे तो वे बड़ा क्रोध करेंगे। भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ लोगो! रजवाड़ों के दरवाजों पर न जाओ, विश्वपति के दरवाजे पर जाओ वहां कोई रोकने वाला नहीं है। वहां कोई निर्दय और कटुवचन बोलने वाला नहीं है। वहीं निर्भय ब्रह्मानंद है, और वहीं ब्रह्मानंद को पाओगे।

ब्रह्मानंद का मतलब है उच्च आनंद। वह मन की निष्काम अवस्था है। विश्वपति कहीं कोई नहीं है। आत्मा ही विश्वपति है। उपनिषदों में भी इस जीव को ही सम्राट कहा गया है। जो कामना को छोड़कर आत्मलीन हो जाता है वह सम्राट हो जाता है, बादशाह हो जाता है। आत्मा ही विश्वपति है। और अपने आत्मा में लौट आना ही विश्वपति-धाम में पहुंच जाना है। निष्काम होकर आत्मलीनता ही ब्रह्मानंद है, महा आनंद है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

25 सितंबर, 1995 ई०)

सातवां प्रवचन

दोहा–98

मन को चिंता चक्रधर, खल विधि रह्यो घुमाय।
रचि है कहा कुलाल सम, जान्यो कछू न जाय॥

विधि, कानून, नियम हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धरकर घुमा रहा है। खल = खलुः, निश्चय, निश्चित ही, यह ब्रह्मा, विधि, यह नियम हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धर कर घुमा रहा है। पता नहीं यह विधि रूपी कुम्हार क्या बनाना चाहता है। कुम्हार अपने चाक पर मिट्टी रखकर चाक को घुमाता है तो वह घड़ा, परई, दीपक या और भी कई प्रकार के बरतन बनाना चाहता है। लेकिन हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धरकर विधि, ब्रह्मा क्या बनाने के लिए घुमा रहा है? कहने का बड़ा सुन्दर तरीका है।

हमारे चित्त को कोई नहीं घुमा रहा है। हम स्वयं अपनी भूल से इसको घुमा रहे हैं। राग–द्वेष का उद्वेग हमारे चित्त में जितना होगा, उतना वह घूमेगा। राग–द्वेष का उद्वेग नहीं रहेगा तो चित्त शांत रहेगा। राग–द्वेष का कारण दूसरा नहीं, किन्तु हमारा अज्ञान है। इसमें उलझना हमारी कमजोरी है। इसके निमित्त तो सदा रहेंगे। दुनिया में ऐसा कहने वाले और बरताव करने वाले तो सदा रहेंगे। किसी ने कुछ ऐसा कह दिया, या बरताव कर दिया, तो उससे हम राग–द्वेष करते हैं, उलझते हैं यह हमारी कमजोरी है। जो हमारे मन के अनुकूल न पड़े ऐसी घटनाएं होती ही रहेंगी। इन घटनाओं और बरतावों में हम उद्वेगित न हों। उद्वेगित होते हैं तो हमारा चित्त चाक की भांति घूमेगा और हम दुखी होंगे। वस्तुतः चित्त को हम घुमाते हैं, कोई दूसरा विधि या ब्रह्मा नहीं घुमाता है। इसलिए इसे शांत भी हम ही कर सकते हैं। वस्तुतः हमारे चित्त को हमारे राग–द्वेष का विधान घुमा रहा है। इसे हमें ही शांत करना है।

दोहा-99

नाहिन शिव अरु विष्णु में, सूझै अंतर मोय।
तदपि चन्द्रशेखर लखत, प्रीति अधिक कछु होय॥

मुझे शिव और विष्णु में कुछ अंतर दिखाई नहीं देता है। फिर भी चन्द्रशेखर पर जब मेरा ध्यान जाता है, तब प्रेम कुछ अधिक हो जाता है। चोटी पर अर्द्ध चन्द्र धारण करने वाले शिव को चन्द्रशेखर कहते हैं। भर्तृहरि जी शैव थे। वे कहते हैं कि शिव और विष्णु में मुझे कुछ अंतर नहीं दिखाई देता लेकिन शिव जी के प्रति अधिक लगाव है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने इष्ट को सर्वोपरि मानता है।

वैसे शिव और विष्णु हुए हैं या नहीं, इसे छोड़ दीजिये। वेदों में 'शिव' का अर्थ मंगलमय और 'विष्णु' का अर्थ सबमें प्रविष्ट किया गया है। प्रकृति के नियम संसार के सारे प्रपंच दृश्य में प्रविष्ट हैं। उन्हीं नियमों के द्वारा सभी संचालित हैं, सभी में गति है। प्रकृति का नियम सब में प्रविष्ट है इसलिए वही आधिदैविक विष्णु है। और सभी प्राणियों के अंदर आत्मा प्रविष्ट है तभी शरीर संचालित हो रहा है। इसलिए आत्मा ही आध्यात्मिक विष्णु है। प्राणियों की समष्टि विराट स्वरूप विष्णु है। क्योंकि इसी से देश-समाज चलता है। इसलिए ये सारे प्राणी ही विष्णु हैं। यह आधिभौतिक विष्णु है।

यहां का मूल भाव है, विष्णु हो या शिव, सभी प्राणियों में निवास करने वाला चेतन आत्मा है। उसी में प्रेम करना विष्णु और शिव में प्रेम करना है।

छप्पय-100

अरे काम बेकाम धनुष टंकारत तर्जत।
तू हू कोकिल व्यर्थ बोल काहे को गर्जत॥
तैसे ही तू नारि वृथा ही करत कटाक्षे।
मोहि न उपजै मोह छोह सब रहिगे पाछे॥
चित चन्द्र चूड के चरण को ध्यान अमृत वरषत हिते।
आनन्द अखण्डानन्द को ताहि अमृत सुख क्यों हिते॥

ऐ काम! तू अपने धनुष को टंकारता है, वह व्यर्थ है। अब मेरा मन इस संसार को समझ लिया है कि इसके भोगों में कांटे के अलावा कुछ नहीं है। और ऐ कोयल! तू भी व्यर्थ में बोल-बोल कर श्रम उठा रही है। अब तेरी कूक से मेरे मन में काम उद्दीपन नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐ स्त्री! तू व्यर्थ में कटाक्ष मत कर, अब तेरे नयन-बाण मुझे कुछ नहीं लगते। यह टट्टी-पेशाब से भरी काया है, इसमें क्या रखा है। अब मेरे मन में मोह नहीं उत्पन्न हो सकता। मेरे मन के मोह सब बीत गये। अब तो चन्द्रचूड़ के चरणों में ध्यान लगाकर मस्त हूं। मेरे मन में अमृत की वर्षा होती है। अब मेरे मन में सदैव अखण्डानन्द है। अब विषय-सुख तुच्छ हो गये हैं।

छप्पय-101

कंथा अरु कौपीन फटी पुनि महा पुरानी।
बिना याचना भीख नींद मरघट मन मानी॥
रह जग सो निश्चिंत फिरै जित ही मन आवै।
राखे चित कूँ शांत अनुचित कबहुँ न भाषै॥
जो रहे लीन अस ब्रह्म में सोवत अरु जागत यदा।
है राज तुच्छ तिहुं भुवन को ऐसो पुरुषन को सदा॥

गुदड़ी और लंगोटी फटी हो और बहुत पुरानी हो तो कोई बात नहीं। बिना मांगे भोजन मिल जाये और श्मशान में इच्छानुसार नींद ले ले। जगत से निश्चिंत रहे और जिधर मन हो उधर घूमें, किन्तु चित्त को शांत रखे, कभी भी अनुचित न बोले। इस प्रकार जो रात-दिन ब्रह्म में, आत्मा में, निजस्वरूप में लीन रहता है उसको तीनों लोकों का राज्य तुच्छ लगता है। कुल मिलाकर साधक अपने आत्मस्वरूप में लीन रहे, उसी में निश्चिंतता है।

छप्पय-102

अति चंचल ये भोग जगत हू चंचल तैसो।
तू क्यों भटकत मूढ़ जीव अज्ञानी जैसो॥

आशा फाँसी काट चित्त तू निर्मल ह्वैरे।
साधन साधि समाधि परम निज पद को ह्वैरे॥
करि रे प्रतीति मेरे वचन दुरि रे तू इह ओर को।
छिन यहै यहै दिन हू भलो निज राखै कछु भोर को॥

संसार के सारे भोग क्षणिक हैं। आज हैं और कल नहीं। सारा संसार ऐसे क्षणिक है। अरे मूढ़ मन! तू अज्ञानी बनकर इनके पीछे क्यों भटकता है? तुझे यहां क्या मिलेगा? इन्हीं सांसारिक चीजों के लिए ही तो तू राग-द्वेष करता है, अनीति करता है, निंदा-ईर्ष्या में पड़ता है, मन को मलिन करता है। इन भोगों की आशा की फांसी काट और निर्मल हो जा। साधना कर, समाधि में डूब और निजपद में स्थित हो। मेरे वचन पर विश्वास कर और संसार से भाग जा। यह बड़ा अनोखा समय क्षण-क्षण बीता जा रहा है। अपने कल्याण को कल के लिए मत छोड़, आज ही कर।

छप्पय-103

योगी जग बिसराय जाय गिरिगुहा बसत हैं।
करत ज्योति को ध्यान मगन आँसू बरसत हैं॥
खग कुल बैठत अंक पियत निःशंक नयन जल।
धनि-धनि हैं वे धीर! धर्‍यो जिन यह समाधि बल॥
हम सेवत बारी बाग सर सरिता वापी कूप तट।
खोवत हैं यो ही आयु को भये निपट ही नीर घट॥

योगीजन जगत को भूलकर पर्वत की गुफा में जाकर बसते हैं। वे ज्योति का ध्यान करते हैं और मगन होकर आंसू बरसते हैं। पक्षी निर्भय होकर गोद में बैठते हैं और आंसू को झरने का पानी समझकर पीते हैं। वे धन्य हैं, जो इस प्रकार समाधि धारण किये। हम तो ऐसे निपट मूढ़ हैं जो फुलवारी, बाग, नदी, वापी (सीढ़ीदार कुआं), कूपतट इन्हीं सब के किनारे पड़े हैं, और अपनी आयु को व्यर्थ में खो रहे हैं। हम अत्यन्त संकुचित जैसे घड़े का पानी हो गये। इन सब बातों में अतिशयोक्तियां हैं लेकिन इन अतिशयोक्तियों के बीच से साधक को वैराग्य की निश्चिंतता और समाधि की प्रेरणा लेनी चाहिए।

छप्पय-104

ग्रस्यो जन्म को मृत्यु जरा यौवन को ग्रास्यो।
ग्रसिबे को संतोष लोभ यह प्रकट प्रकाश्यो॥
तैसे ही सम दृष्टि ग्रसित बनिता विलास वर।
मत्सर गुण ग्रसि लेत ग्रसत वन को भुजंग वर॥
नृप ग्रसित किये इन दुर्जनन कियो चपलता धन ग्रसित।
कछुहू ना देखो बिन ग्रसित याही ते चित अति त्रसित॥

जन्म को मृत्यु ने ग्रस लिया है। जवानी को बुढ़ापा ने घेर लिया है। संतोष को लोभ ने घेर लिया है। इसीलिए लोभी आदमी को संतोष नहीं। इसी प्रकार स्त्री के प्रति विलासी भावना ने हमारी समता-दृष्टि को नष्ट कर दिया है। सारे सद्‌गुणों को ईर्ष्या ने ग्रस लिया है। सद्‌गुणियों को देखकर ईर्ष्यालु जलते हैं। पर्वत और वनों को सांपों ने ग्रस लिया है। राजाओं को इन दुष्टों ने ग्रस लिया है। दुर्जन लोग राजाओं के आस-पास लगे रहते हैं। आजकल उन्हें चमचे कहते है। राजनेताओं के चमचे होते हैं। धन को चंचलता ने ग्रस लिया है। धन का कुछ विश्वास नहीं। भर्तृहरि जी कहते हैं, मैंने ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी जो विरोधी पक्ष से बिना ग्रसित हो। इसलिए इन सबको देखकर मेरा चित्त बहुत त्रसित है। इस संसार में किस चीज की आशा की जाय। अतएव वैराग्य ही सुखद है।

दोहा-105-106

रोग वियोग विपत्ति बहु, देह आयु आधीन।
निडर विधाता जग रच्यो, महा अथिरता लीन॥
सह्यो गर्भ दुख जन्म दुख, यौवन त्रिया वियोग।
वृद्ध भये सबहिन तज्यो, जगत किंधौ यह रोग॥

शरीर में रोग लगते हैं और अनुकूल व्यक्तियों-वस्तुओं का वियोग होता है, अनेक प्रकार की विपत्तियां आती हैं। हमारा शरीर आयु के आधीन है, जो निरंतर समाप्त हो रहा है। निश्चित है विधाता ने जगत को निर्भय और उच्छृंखल होकर रचा है। कुछ नहीं सोचा और ऐसा बना डाला जो अत्यंत क्षणिक है। इसमें मैं गर्भ-दुख सहा, जन्म का दुख सहा, जवानी

में स्त्री के वियोग का दुख सहा और स्त्री को लेकर मन हरदम खौलता रहा, उद्वेगित, उत्तेजित होता रहा। बुढ़ापा आते ही सबने छोड़ दिया, पत्नी भी नहीं पूछती है। लगता है जगत में आना रोग और दुखों को निमंत्रित करना है। अतएव यह जगत है अथवा रोग है।

छप्पय-107

शतहिं वर्ष की आयु रात में बीतत आधे।
ताके आधे आध वृद्ध बालकपन साधे॥
रहे यहै दिन आधि व्याधि गृह काज समोये।
नाना विधि बकवाद करत सबहिन दिन को खोये॥
जल की तरंग बुदबुद सदृश देह खेह ह्वै जात है।
सुख कहां कहो इन नरन को जासो फूल गात है॥

आदमी की उम्र सौ वर्ष की मानी जाती है। कुछ लोग सौ वर्ष से अधिक जीते हैं बाकी लोग तो सौ वर्ष के अंदर में ही मरते हैं। लेकिन मान लो मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है। इसमें आधी आयु रात में बीत जाती है और आधे की आधी वृद्ध और बालकपन में बीत जाती है। और जो आयु बची वह आधि-व्याधि तथा काम-धंधा में बीत जाती है। **नाना विधि बकवाद करत सबहिन को खोये।** नाना प्रकार के बकवाद, राग-द्वेष, परनिंदा, काम-क्रोध, मद-मत्सर, प्रपंचवार्ता करके समय बर्बाद हो गया। जैसे जल की तरंगें और बुदबुदे क्षण में मिट जाते हैं, वैसे यह देह धूल हो जाती है। कहो भला, इन मनुष्यों को इन भोगों में सुख कहां है जो इनका शरीर अहंकार में फूल रहा है।

दोहा-108

बड़े विवेकी तजत हैं, सम्पति सुत पितु मात।
कन्था अरु कौपीन हूँ, हम से तजी न जात॥

वे बड़े विवेकी होते हैं, जो संपत्ति, पुत्र, पिता, माता जो कुछ अपना माना है, उसे छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। हमसे तो गुदड़ी और लंगोटी भी नहीं छोड़ी जा रही है।

दोहा-109

कुपित सिंहनी ज्यों जरा, कुपित शत्रु ज्यों रोग।

फूटे घट जल त्यों वयस, तऊ अहित युत लोग॥

बुढ़ापा सिंहनी के समान कुपित होकर दौड़ी आ रही है। पता नहीं चलता है बाल कब एक-एक कर उजले हो जाते हैं? आंखों की रोशनी घटने लगती है। दांतों में पीड़ा होना और उनका उखड़ना शुरू हो जाता है। चाम में शिकन इस प्रकार आती है जैसे चोर। रोग दुश्मन के समान हमारे शरीर में हमला करते हैं। शरीर की दशा वैसी है जैसे फूटा घड़ा, जिसमें से जल निरंतर बह कर निकल रहा हो। ऐसी दुर्दशा इस शरीर की है। तो भी लोग अहित के काम में लगे रहते हैं, जिससे अपना विनाश हो उसी में लगे रहते हैं। काम-वासना का स्मरण अपना विनाश है। क्रोध करना अपना विनाश है। ईर्ष्या करना अपना विनाश है। परनिंदा करना अपना विनाश है। चिंता करना अपना विनाश है। सांसारिक चीजों को रात-दिन जपना अपना विनाश है। इन्द्रियों की लंपटता में पड़े रहना अपना विनाश है। हां, शरीर के लिए इन तीन चीजों—असन, वसन, निवसन की जरूरत होती है, इन्हें संक्षिप्त लें।

कल्याण का काम करो। अपने मन की चालबाजी में पड़कर अपने चित्त को दूषित मत करो। नहीं तो इसी धोखाधड़ी में जीवन बीत जायेगा और मौत आ धमकेगी। तब पछताना पड़ेगा। इसलिए पहले ही सम्हल जाओ।

दोहा-110

भू भूषण तन रत्न दै, नर को करि गुण खान।

क्षण भंगुर विधि तेहि कियो, यह खटकत अज्ञान॥

विधाता का अज्ञान मुझे खटकता है। मनुष्य को उसने भव का भूषण बनाया। मनुष्य का तन रत्न है, जिसमें विवेक उत्पन्न होता है। मनुष्य को गुणों की खानि बनाया, लेकिन इसको क्षणभंगुर बनाया। और यह भी निश्चित नहीं किया कि भई, तुम अस्सी वर्ष रहो या सौ वर्ष रहो। किन्तु इतना अचानक चला जाता है कि कुछ पता नहीं लगता है।

वैसे विधाता के अज्ञान का पता लगाया जाय तो और भी बहुत होगा। भर्तृहरि जी कहते हैं, यहां मैंने एक अज्ञान कहा है। यह सब कहने का एक तरीका है। किसी के अज्ञान से हमारे शरीर का निर्माण नहीं होता है। किन्तु हमारे ही अज्ञान और मोह से शरीर बना है। शरीर की जितनी आयु है, समय है, वह बहुत है। हम इस जीवन में दसों-बीसों बार मोक्ष ले सकते हैं। लेकिन एक बार ले लेने पर और लेने की जरूरत नहीं रहती। बस, उसी को बनाये रखना रहता है। समय कम नहीं है। हमारी कुचाल, हमारी आसक्ति, पाखण्ड और मूढ़ता ही हमें नीचे गिराती रहती है। एक तो हम अध्यात्म को ठीक से समझ नहीं पाते हैं। कुछ समझे भी तो तनिक कोई गुण आया, उसी का घमण्ड हो जाता है। यहां तक भक्ति का घमण्ड, वैराग्य का घमण्ड, साधना का घमण्ड, विद्या का घमण्ड, ज्यादा दिन के साधु होने का घमण्ड हो जाता है। यह सब हमारा अज्ञान है। हम अपने अज्ञान में ही चूर रहते हैं। समय कम नहीं है। समय बहुत ज्यादा है। हम इस सुअवसर का उपयोग करें।

छप्पय-111

भयो संकुचित गात दन्त हू उखरि परे महि।
आँखिन दीखत नाहिं बदन ते लार परत बहि॥
भई चाल बेचाल हाल बेहाल भयो अति।
वचन न मानत बन्धु नारिहू तजी प्रीति गति॥
यह कष्ट महा दिये वृद्धपन कछु मुख सो नहिं कह सकत।
निज पुत्र अनादर कर कहत यह बूढ़ा यों ही बकत॥

भर्तृहरि जी वृद्धावस्था का खाका खींचते हुए कहते हैं कि शरीर वृद्धावस्था में संकुचित हो जाता है, शिकन से भर जाता है। मुख के दांत उखड़ कर जमीन पर चले गये हैं। आंखों से कम दिखाई देता है। मुख से लार टपक पड़ती है। चाल बेचाल हो गयी है। पैर इधर रखो तो उधर चले जाते हैं। अब मेरा हाल बेहाल हो गया। शरीर से कोई काम सधता नहीं है, यहां तक भोजन भी नहीं पचता है।

भाई लोग बात नहीं मानते हैं। पत्नी ने भी प्रेम की गति छोड़ दी है। अब पूछती भी नहीं है, कि कैसी हालत है? इस प्रकार बुढ़ापा ने यह महा

कष्ट दिया। अब मुख से कुछ नहीं कह सकता, बस बिस्तर पर पड़ा रहता हूं। यदि कुछ कहूं तो उलटा होता है। **निज पुत्र अनादर कर कहत यह बूढ़ो यों ही बकत।** पुत्र उठकर मित्रों से कहता है, यह बूढ़ा यूं ही बकता रहता है। इसकी बुद्धि खराब हो गयी है। साठी बुद्धि नाठी होती है। इस प्रकार पुत्र मेरा अनादर करता है। अहो! कैसा समय आ जाता है।

छप्पय-112

छिन में बालक रोत होत छिन ही में यौवन।
छिन ही में धनवन्त होत छिन ही में निर्धन॥
होत छिनक में वृद्ध देह जरजरता पावत।
नट ज्यों पलटत अंग स्वांग नित नये दिखावत॥
यह जीव नाच नाना रचत निचल्यो रहत न एकदम।
करके कनात संसार की कौतुक निरखत रहत यम॥

भर्तृहरि जी महाराज वृद्धता की दयनीय दशा का वर्णन करने के बाद शरीर-संसार की क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं कि क्षण ही में बालक माता के गर्भ से रोता हुआ पैदा होता है। क्षण ही में देखते-देखते जवान हो जाता है। क्षण ही में धनार्जन कर धनवान हो जाता है, और क्षण ही में निर्धन हो जाता है। क्षण ही में वृद्ध और जर्जर हो जाता है। देखते-देखते शरीर का कितना परिवर्तन होता है। जैसे नट अपना स्वांग बदलता है और नये-नये रूप दिखाता है। ऐसे ही **यह जीव नाच नाना रचत।** यह जीव नाना नाच रचता है। अनेक अवस्था रूपी चेहरे बदलता है। **निचल्यो रहत न एकदम।** एकदम, एक सांस, एक क्षण भी यह **निचल्यो** निश्चल, स्थिर, शांत नहीं रहता है। **करके कनात संसार की कौतुक निरखत रहत यम।** मौत संसार की कनात कर, परदा डालकर उसके अंदर से देखती रहती है कि यह जीव अभी नाच रहा है और यह समझ नहीं रहा कि मेरे मुख में आने वाला है, और इतरा रहा है, अहंकार कर रहा है। मौत परदे के आड़ से मुस्कराती है। वह समझती है कि इस मूर्ख को पता नहीं है कि इसे मैं जल्दी उठा लेने वाली हूं।

छप्पय-113

सर्प सुमन को हार उग्र बैरी अरु सज्जन।
कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन॥
तृण अरु तरुणी नारि सबन पर एक दृष्टि चित्त।
कहूँ राग नहिं रोष, द्वेष कतहूँ न कहूँ हित॥
ह्वै हैं कब मेरी यह दशा गंगा के तट तप जपत।
रस भीने दुर्लभ दिवस ये बीतेंगे शिव-शिव रटत॥[1]

मेरे गले में किसी ने सांप डाल दिया हो या फूलों के हार डाल दिया हो, उग्र बैरी हो या सज्जन हो। सोना हो, मणि हो, लोहा हो, फूलों की शैय्या हो, और पत्थर हो, तृण हो या तरुणी स्त्री हो, सब पर मेरी एक दृष्टि हो। न कहीं राग होगा, न ही कहीं द्वेष होगा, न रोष होगा, न मोह होगा। ऐसी मेरी दशा कब आयेगी कि गंगा के किनारे जप-तप करते हुए, आत्मज्ञान में लीन रहूंगा। हमारे ऐसे दुर्लभ दिन कब आयेंगे जब मधुर रस भीने शिव-शिव जपते बीतेंगे।

भर्तृहरि जी शिव उपासक थे। वैसे शिव का अर्थ है कल्याण। जो बैल पर बैठता हो, जिसके सिर पर जटा हो, अर्द्धचन्द्र धारण करता हो, सिर पर गंगा लहरी हो और साथ में पत्नी रखता हो, जिसका पुत्र गणेश हो, और शरीर में सांप लपेटे हो, ऐसे शिव की कल्पना पुराणों की देन है। वेद में रुद्र देवता है, जो तूफान का देवता है। उसी के बाद शिव की कल्पना हुई है। शिव तो वास्तव में कल्याण स्वरूप है। जो निर्मल हो गया है, वह शिव है। इसीलिए मांडूक्य उपनिषद् में प्रपंच के उपशमन होने पर शिवत्व का उद्घाटन माना गया है। **प्रपञ्चोपशमं शातं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** जब प्रपंच का उपशमन हो गया, चित्त शांत हो गया, तब शिवत्व का उद्घाटन हुआ। यही चौथी अवस्था है। पहली जागृत अवस्था, दूसरी स्वप्न, तीसरी सुषुप्ति और चौथी शिवत्व की

---

1. अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृद वा।
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृपदि वा॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यांतु दिवसाः।
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः॥ 113 ॥

समाधि अवस्था है। जैसे किसी आदमी से मिलने के लिए जहां वह काम करता है, वहां जाना पड़ता है। जहां वह रहता है, काम करता है, वहीं मिल सकता है। जागृत अवस्था में जीव रहता है। स्वप्न, सुषुप्ति में भी रहता है और समाधि में भी रहता है। इन चारों को पहचानने के लिए माण्डूक्य उपनिषद् में बताया गया है। यहां अंतिम बात बतायी गयी है। पूरा कथन इस प्रकार है–

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शातं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ 7 ॥

न वह अन्तर प्रज्ञ होता है, न बहिष्प्रज्ञ होता है, न उभयप्रज्ञ होता है, न प्रज्ञ होता है, न अप्रज्ञ होता है, न प्रज्ञानघन होता है, वह तो अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्योपदेश है, उसका उपदेश नहीं हो सकता है। **एकात्मप्रत्ययसारं** वह आत्मअस्तित्व मात्र होता है। वहां प्रपंच का उपशमन होता है, संकल्प शांत होता है। वह शिव है, कल्याण स्वरूप है, असंग, अकेला है। **चतुर्थं मन्यन्ते सः आत्मा** यह चतुर्थ अवस्था, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे समाधि अवस्था है। यही आत्मा है। **स विज्ञेयः** यह विज्ञेय है, जानने योग्य है। सारे प्रपंचों का शमन आत्मविश्राम यह शिव की स्थिति है। भर्तृहरि जी कहते हैं, इस शिवस्वरूप में, आत्मस्वरूप में मैं कब स्थित होऊंगा। मेरे मन में राग नहीं होगा, द्वेष नहीं होगा। मेरा चित्त समता को प्राप्त कर आत्मलीन हो जायेगा, ऐसा दुर्लभ दिन, ऐसा सौभाग्य का समय मेरा कब होगा?

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
26 सितम्बर, 1995 ई०)

सद्गुरवे नमः

वैराग्य त्रिवेणी

तुलसी वैराग्य संदीपनी

आठवां प्रवचन

गोस्वामी जी की एक छोटी-सी पुस्तक है वैराग्य संदीपनी, उस पर आज से कहा जायेगा है।

राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुर तरु तुलसी तोर॥ 1 ॥

यह वैराग्य संदीपनी है। इसलिए गोस्वामी जी वंदना और स्मृति में राम का वह रूप लेते हैं, जो जंगल में रहा है। राम के बांये जानकी हैं, और लक्ष्मण दाहिनी तरफ हैं। ये तीनों अयोध्या से निकल कर जंगल को गये और उन्होंने चौदह वर्ष तक तप किया। यह वैराग्य का लक्षण है। इसलिए गोस्वामी जी इस रूप को लेकर वंदना करते हैं कि श्रीराम की बांये तरफ जानकी जी हैं और दाहिनी तरफ लक्ष्मण हैं। यह ध्यान सब भांति से कल्याणमय है। ऐ तुलसी, तुम्हारे लिए तो यह कल्पवृक्ष है।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुन ग्राम।

हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रवि कुल रवि राम॥ 2॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि चाहे करोड़ों गुणों का समूह इकट्ठा कर लो, बड़े सद्‌गुणी हो जाओ। लेकिन रवि कुल में उत्पन्न रवि राम सूर्यवंशी श्री राम के बिना हृदय कमल नहीं खिलेगा।

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परशै बिना निकेत॥ 3॥
अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुण रहित जो।
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तन धरेउ॥ 4॥

जो कानों के बिना सुनता है, नेत्रों के बिना देखता है, जीभ के बिना रस चखता है, नासिका के बिना गंध ग्रहण करता है और शरीर के बिना स्पर्श करता है; जो अजन्मा है, अद्वैत है, अनाम है, अदृश्य है, रूप और गुणरहित है, वही मायापति ब्रह्म दशरथ-पुत्र श्रीराम है। उसने भक्तों के उद्धार के लिए देह धारण किया है।

उपर्युक्त कथन गोस्वामी जी की भावना है। ऐसी जगह के लिए सद्‌गुरु कबीर ने कहा है—

राम बियोगी बिकल तन, इन्ह दुखवो मति कोय।
छूवत ही मरि जायेंगे, ताला बेली होय॥ बीजक, साखी 98॥

तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप-पुण्य द्वै बीज हैं, बवे सो लवै निदान॥ 5॥

यह शरीर खेत है और इसमें मन, वचन और कर्म किसान हैं। पाप-पुण्य के दो बीज हैं। जो बोया जायेगा, वही अंत में काटा जायेगा।

शरीर खेत है; मन, वचन और कर्म किसान हैं। इसमें विचारणीय यह है कि मन, वचन और कर्म कर्ता नहीं हैं। क्योंकि कर्ता स्वतंत्र होता है। मन, वचन, कर्म बिना कर्ता के कुछ नहीं कर सकते हैं। इन सबका कर्ता जीव है; इसलिए जीव किसान है। मन, वचन, कर्म को प्रेरणा देने वाला जीव ही किसान है। पाप-पुण्य बीज हैं। खेत में जो बीज डाले जायेंगे उन्हीं के पौधे उगेंगे, फल-फूल निकलेंगे। यदि पाप किया गया तो दुख

पैदा होगा और पुण्य किया गया तो सुख पैदा होगा। इसलिए मनुष्य को सावधान रहना चाहिए कि मन से, वचन से, कर्म से पाप के बीज न बोये। क्योंकि आदमी की सफलता-असफलता इसी पर निर्भर है। आदमी सही मार्ग में चलता है कि गलत मार्ग में यह उस पर निर्भर करता है। यदि गलत मार्ग पर चलता है तो असफल है, और सही मार्ग पर चलता है तो सफल है। इसलिए सावधानी से कर्म करना चाहिए।

तुलसी यह तन तवा है, तपत सदा त्रय ताप।
सांत होय जब सांति पद, पावै राम प्रताप॥ 6॥

यह शरीर तवा के समान है, जो सदैव तीनों तापों में तपता रहता है। जैसे चूल्हे पर रखे हुए तवा में नीचे से आंच लग रही है, और उस पर रोटी सेंकी जाती है। वह हर समय तपता रहता है। शरीर की दशा भी यही है। भूख-प्यास, ठंडी-गरमी, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, मिलन-वियोग, रोग-व्याधि, इन तापों में तवा के समान यह शरीर निरंतर तपता रहता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि शीतलता मिलेगी, शांति मिलेगी, जब राम की कृपा होगी। अब राम किसी पर कृपा करे और किसी पर कृपा न करे, ऐसा क्यों? वास्तव में अपनी दृष्टि का सुधरना ही राम की कृपा है। जब हम अपने पर कृपा करें, अपने दोषों को छोड़ें तभी इस शरीर का ताप मिटेगा और शांति मिलेगी।

तुलसी वेद पुरान मत, पूरन सास्त्र विचार।
यह विराग संदीपनी, अखिल ज्ञान को सार॥ 7॥

वेद, पुराण और सभी शास्त्रों का विचार कर लिया गया, उसके पश्चात इस वैराग्य संदीपनी की रचना की गयी। यह संपूर्ण ज्ञान का सार है।

संत स्वभाव वर्णन

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थ मय मानि।
तुलसी सरलै संत जन, ताहि परी पहिचान॥ 8॥

इस वैराग्य संदीपनी ग्रंथ के वर्ण और भाषा सरल हैं। वर्ण नाम अक्षर। इसके अक्षर सरल हैं। जैसे वैराग्य नहीं, बैराग है, शांति नहीं सांति है। ग्रामीण लोग जिस ढंग से बोलते हैं उस ढंग से शब्द रखा गया है। और इसकी भाषा भी सरल है। इसमें कोई साहित्यिक और दार्शनिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। **सरल अर्थ मय मानि।** इसका अर्थ भी सरल है। **तुलसी सरलै संत जन।** गोस्वामी जी कहते हैं संत भी सरल होते हैं। **ताहि परी पहिचान।** उन्हीं के पहचानने में यह बात आयेगी।

जो सरल होते हैं, वे संत की बातों पर ध्यान देते हैं। बहुत से लोग तो इसी चक्कर में रहते हैं कि इसकी भाषा कैसी है? शैली कैसी है? भला उन्हें बात कैसे पहचानने में आयेगी। संतजन सरल होते हैं और सरल बातों पर ध्यान देते हैं। लोग भाषा शैली के ही चक्कर में रहते हैं। एक व्यक्ति ने कहा था कि यह नहीं देखा जाता है कि कहा क्या गया है। किन्तु कैसे कहा गया है, इसका मूल्य है। तब मैंने कहा–हां, यह बात नहीं है कि जिंदा है कि मुरदा है, किन्तु उसका शृंगार कैसा है, इसका महत्त्व है। तो वह लज्जित हो गया। इसलिए क्या कहा गया है, इसका मूल्य है। कैसे कहा गया है, इसका भी मूल्य है, लेकिन क्या कहा गया है, इसका महत्त्व ज्यादा है। ''घी के लड्डू टेड़ो बेड़'' यह अवध क्षेत्र में कहावत है। घी से बना हुआ लड्डू टेढ़ा भी है तो भी वह मिष्ट, पुष्टकर और हितकर है। इसी प्रकार कथन कल्याणकारी और हितकर है तो उसका महत्त्व हमारे लिए ज्यादा है।

अतिसीतल अति ही सुखदाई। समदम राम भजन अधिकाई।
जड़ जीवन को करैं सचेता। जग महँ विचरत हैं यहि हेता॥ 9॥

वैराग्य संदीपनी में गोस्वामी जी पहले अपने विश्वास के अनुसार वंदना करते हैं, उसके बाद शरीर के ताप इत्यादि को बताते हैं। फिर उन्होंने यह बताया कि यह ग्रंथ सरल रूप में कहा गया है, और वह वेद-शास्त्र आदि का सार है। उसके पश्चात वे पूरे ग्रंथ में दो विषय को लेते हैं, वह है संत-स्वभाव और शांति। संतों का स्वभाव क्या होना चाहिए, रहनी, आचरण कैसे होना चाहिए और शांति क्या है? इन दो विषयों पर वे प्रकाश डालते हैं।

अति सीतल अति ही सुखदाई। संत बड़े शीतल होते हैं और सुखदाता होते हैं। जो शीतल होगा वही सुख देगा। जिसके मन में अहंकार नहीं है, विकार नहीं है, कोमल वाणी है, कोमल व्यवहार है और किसी से कुछ चाहना नहीं है, उससे ही सबको सुख मिलता है। उसके सिवा और कहां से सुख मिलेगा? हां, उनसे दुष्ट को सुख नहीं मिलता है। दुष्ट तो उन्हें देखकर और दुखी हो जाते हैं। लेकिन जब उनकी दृष्टि घूमती है तो वे भी सुखी होते हैं, क्योंकि सच्चे संत अति शीतल होते हैं और अति सुखदायी होते हैं।

समदम राम भजन अधिकाई। वे मन-इन्द्रियों को वश में रखते हैं। मन को वश में रखना शम है और इन्द्रियों को वश में रखना दम है। **राम भजन अधिकाई।** वे सच्चे रामभजन में लीन रहते हैं। गोस्वामी जी के राम दशरथ सुवन हैं। उन्होंने मानस में बारम्बार कील ठोंका है और अपनी मान्यता को खीझ-खीझकर कहा है कि जो राम को परमात्मा नहीं मानता है, वह बिना सींग-पूछ का पशु है, अवैदिक है आदि। लोग श्री राम को परमात्मा नहीं मानते थे। उन्हें चिढ़ाते थे कि वह दशरथ का लड़का है, जिसको आप भजते हैं, जो सीता के लिए रोते थे, वन-वन खोजते थे, उसी को आप भजते हो। तो वे चुप हो जाते थे। तब फिर वे उपोद्घात बांधते थे शिव-पार्वती, काकभुशुण्डि-गरुड़ तथा याज्ञ्यवल्क्य भरद्वाज का और कहते थे कि श्री राम ही अनन्त ब्रह्माण्ड नायक हैं। किन्तु अंत में वे थक कर कहते हैं—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी" हृदय में बसने वाला राम ही अविनाशी और अविकारी है। क्योंकि श्रीराम का शरीर नहीं है, उनसे मिलने का कोई साधन नहीं है, और मिल भी जायें तो अलग रहेंगे, बिछुड़ जायेंगे। लेकिन जो स्वयं राम है, अपने आप में रमा है, अपना स्वरूप है, वह कभी नहीं बिछुड़ेगा। उसी में विश्राम है।

अगर हम कहें कि हे अवधेश! कृपा करो। तो अवधेश को अयोध्या से चलना होगा। अयोध्या से इलाहाबाद के लिए ट्रेन पकड़ना होगा। जब यहां उतरेंगे तब प्लेटफार्म से बाहर आकर टेम्पो पकड़ेंगे और टेम्पो से धूमनगंज उतरेंगे। फिर वहां से पैदल आयेंगे, तब यहां कबीर आश्रम पहुंचेगे। और अगर हम कहें कि हे हृदयेश! कृपा करो। तब हृदय में रहने वाला राम, तो वह स्वयं ही है। अतः राम भजन है जो हृदय निवासी है,

निजस्वरूप है, उसमें स्थित होना, विश्राम पाना। निजस्वरूप में विश्राम पाना ही सच्चा राम भजन है।

जड़ जीवन को करैं सचेता। जग महँ विचरत हैं यहि हेता। संतजन जगत में क्यों विचरण करते हैं? क्योंकि वे जड़ जीवों को, जड़ीभूत लोगों को सचेत करते हैं, जगाते हैं। आसक्त लोगों को जगाते हैं, सावधान करते हैं कि आसक्ति छोड़ो, नहीं तो दुख में पड़े रहोगे। संतजन जड़ जीवों को जगाते हुए विचरते हैं किन्तु वे दुनिया से निष्काम रहते हैं।

तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरनि वह संत।
परकाजे परमार्थी, प्रीति लिए निबहंत॥ 10॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे संत कहीं-कहीं मिलते हैं। वे संत धन्य होते हैं। वह पृथ्वी धन्य होती है, जहां संत रहते हैं। वे पर के उपकार के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देते हैं, तथा वे समर्पित लोगों को निभाते हैं। वे परमार्थ में लीन रहते हैं और लोगों को परमार्थ की तरफ प्रेरित करते हैं।

की मुख पट दीन्हें रहैं, यथा अर्थ भाषंत।
तुलसी या संसार में, सो विचार युत संत॥ 11॥

संसार में विचारवान संत वे हैं जो या तो मुख का किवाड़ बंद रखते हैं, या उपयुक्त और विवेक-विचारपूर्वक ज्ञान की बातें बोलते हैं। या तो वे मौन रहेंगे या बोलेंगे तो विवेकपूर्वक। वे व्यर्थ नहीं बोलते। संत का मुख्य लक्षण है शांत रहना, मौन रहना और बोलना तो विवेकपूर्वक बोलना। कबीर साहेब भी कहते हैं "मौन रहे कि हरि यश गावै।"

बोले वचन विचारि के, लीन्हें संत स्वभाव।
तुलसी दुख दुर्वचन के, पंथ देत नहिं पांव॥ 12॥

गोस्वामी जी कहते हैं, संत जब बोलते हैं तो पहले हृदय में विचार लेते हैं। बिना विचारे वे नहीं बोलते। साथ-साथ शील स्वभावसहित

कोमल वाणी बोलते हैं। संत का हृदय कोमल होता है। वे किसी को कष्ट नहीं पहुंचाते हैं। वे भूलकर भी अहंकार-ममकार में नहीं पड़ते हैं। दुर्वचन दुख का रास्ता है। उस रास्ते पर वे पैर नहीं रखते। दुर्वचन कहोगे तो तुम क्षुब्ध हो जाओगे और फिर दूसरे को क्षुब्ध करोगे। अपना उद्वेगित होना, दूसरे को उद्वेगित करना विवेक नहीं है। अतएव वे स्वयं उद्वेगित नहीं होते हैं, और दूसरे को उद्वेग नहीं पहुंचाते हैं। यही सच्चे संत का लक्षण है।

शत्रु न काहू करि गने, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत संत को, बोलै समता माहि॥13॥

संतजन न तो किसी को शत्रु मानते हैं, और न मित्र मानते हैं। वे समता में रहते हैं और समता के वचन कहते हैं। विवेक से देखा जाय तो यहां कौन शत्रु और कौन मित्र है। किसी का साथ नित्य नहीं है। इसलिए संत इस बात को चित्त में रखकर सबको सम दृष्टि से देखते हैं।

अति अनन्य गति इन्द्री जीता। जाको हरि बिनु कतहुँ न चीता॥
मृग तृष्णा सम जग जिय जानी। तुलसी ताहि संत पहिचानी॥ 14॥

अनन्य में दूसरे की गुंजाइश नहीं हो सकती। उसमें भी उन्होंने अति विशेषण लगाया है। यानी दूसरे की अपेक्षा-उपेक्षा से रहित ऐसी गति, ऐसी स्थिति, ऐसी उच्चदशा जिसमें दूसरा माया-मोह न हो। जिन्होंने इन्द्रियों को पूर्ण रूप से जीत लिया है। उनका चित्त केवल हरि में लगा रहता है। सदैव आत्मलीन। जिन्होंने मन में जगत को मृगतृष्णा के समान समझ लिया है। मृगतृष्णा शब्द एक कोडवर्ड की तरह है। कहा जाता है कि हिरण धूप की लहरियों को पानी समझकर दौड़ता है, वहां पानी मिलेगा। आगे पानी मिलेगा, ऐसा सोचकर दौड़ते-दौड़ते गिर पड़ता है और मर जाता है, किन्तु पानी कहीं नहीं मिलता। हर प्राणी की दशा यही है। आदमी जब से होश में आता है तब से सुख के लिए दौड़ता है, सुख के लिए सारा आयोजन करता है और दौड़ते-दौड़ते मरता है किन्तु सुख कहीं नहीं पाता। विषयों में सुख की कल्पना मृगतृष्णा है। संतजन सारे विषय सुख को मृगतृष्णा के समान समझते हैं। इसमें पड़कर कहीं शांति न मिलेगी। अगर कोई अपनी

शांति के लिए कहे कि मैं मठ बनवाऊंगा, चेला बटोरूंगा, प्रचार करूंगा तो यह भी मृगतृष्णा है। अपनी शांति के लिए तो बोध-वैराग्य और भक्ति साधन है। मठ-मंदिर, शिष्य-शाखा, प्रचार-प्रसार आदि लोक हित के लिए है। निष्काम भाव से लोक हित किया जाय तो उसका भी पुण्य-प्रताप अच्छा होगा। अच्छे संस्कार होंगे। लेकिन प्रचार-प्रसार को उपलब्धि मानना मृगतृष्णा ही है।

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
राम रूप स्वाती जलद, चातक तुलसी दास॥ 15॥

राम ही का एकमात्र भरोसा है, उन्हीं का बल, आशा और विश्वास है। रामरूप ही स्वाति नक्षत्र का बादल है और तुलसीदास उसका चातक है।

सो जन जगत जहाज है, जाके राग न दोष।
तुलसी तृष्णा त्यागि के, गहै सील संतोष॥ 16॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि वे संतजन जगत में दूसरों को तारने वाले जहाज हैं, जिनके मन में राग-द्वेष नहीं हैं और तृष्णा त्यागकर शील-संतोष की रहनी में जीते हैं।

सील गहनि सब की सहनि, कहनि हिये मुख राम।
तुलसी रहिये यहि रहनि, संत जनन को काम॥ 17॥

शील ग्रहण करना, सबकी बातें सह लेना। सहना अमृत है, सहना साधना है। सहने वाला सिद्धि पाता है और असहनशील दो कौड़ी का है। मुख से राम कहे और हृदय में राम की स्थिति रहे, आत्मस्थिति रहे। तुलसीदास जी कहते हैं कि संत जन का यही काम है। इसी रहनी में मंगल है।

निज संगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून।
मलयाचल हैं सतंजन, तुलसी दोष बिहून॥ 18॥

सच्चे संत अपने साथियों को अपने समान बना लेते हैं, और दुर्जनों के मन के दुख को दूना बढ़ा देते हैं। लेकिन संतजन तो मलयाचल हैं, दोष बिहून हैं। यह तो लोगों द्वारा ग्रहण करने का अपना-अपना विचार है। जो जैसा समझता है, वैसा ग्रहण करता है। जो ऐसे संतों के पास रहने वाले हैं, वे अपना मन देते हैं तो वे उन्हीं के समान हो जाते हैं। जो दुर्जन हैं, वे उन्हें देख-देख कर जलते हैं। परंतु संत तो मलयगिरि के समान निर्मल एवं शीतल हैं।

कोमल वाणी संत की, स्त्रवत अमृतमय आइ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ॥ 19॥

संतों की वाणी सदैव कोमल होती है। वह अमृत के समान झरती है। ऐसी मधुर वाणी सुनकर कठोर मन भी पिघले मोम के समान कोमल हो जाता है।

अनुभव सुख उत्पत्ति करत, भय भ्रम धरइ उठाइ।
ऐसी वाणी संत की, जो उर भेदै आइ॥ 20॥

संत की वाणी अनुभव-सुख उत्पन्न करती है। अनुभव-सुख शांति-सुख है। मन में कोई विकार न हो, तब चित्त निरांत शांत हो जाता है और यह सर्वोच्च स्थिति है। मौत के समय यही होगा, सारी नाड़ियां सिमट जायेंगी और थोड़ी देर में शरीर शून्य हो जायेगा। जिसको स्वरूप बोध पक्का निश्चय है, वह तो समझ लेता है कि मेरा पक्का भवन बना हुआ है। वह इस शरीर रूप कच्चे भवन को छोड़कर आत्मस्थिति रूप पक्के भवन में सदा के लिए स्थिर हो जायेगा। वह उसी की प्रतीक्षा में रहता है। बाहर के उत्सव को वह तुच्छ समझता है। विदेहमोक्ष होने के समय को वह परम उत्सव का दिन समझता है। अतः संत की वाणी अनुभव-सुख उत्पन्न करती है और **भय भ्रम धरइ उठाइ।** भय और भ्रम को मन से अलग उठा कर धर देती है। संत की वाणी का कोई मनन करे तो उसके मन में कोई भय न रहेगा। क्या छूटेगा? अपना कुछ है ही नहीं। और भ्रम कुछ है नहीं। बाहर से कुछ पाना नहीं और मेरा कुछ नहीं है। मुझे तो मेरी

स्वरूपस्थिति प्राप्त है। संत की वाणी मिल जाय और हृदय को भेद डाले, तो भय-भ्रम दूर हो जायेगा और अनुभव-सुख उत्पन्न होगा।

सीतलवाणी संत की, ससि हूँ ते अनुमान।
तुलसी कोटि तपन हरै, जो कोइ धारे कान॥ 21॥

ऐसा अनुमान किया जाता है कि संतों की वाणी चन्द्रमा से भी अधिक शीतल है। अगर कोई उसे धारण कर ले तो उसकी करोड़ों तपन बुझ जाय। यह महिमा-कथन नहीं, वास्तविकता है। यदि आदमी उनकी वाणियों को सच्चे दिल से धारण करे तो उसके मानसिक ताप मिट जाते हैं।

पाप ताप सब सूल नसावै। मोह अन्ध रवि वचन बहावै॥
तुलसी ऐसे सद्गुण साधू। वेद मध्य गुण विदित अगाधू॥ 22॥

संतों की ज्ञानप्रवाह वाणी सूर्यवत ज्योतित होती है। वह मोह की अंधियारी को नष्ट कर देती है और सुनने वाले के मन के पापजनित ताप और पीड़ा को नष्ट करती है। गोस्वामी जी कहते हैं कि संतजन इस प्रकार सद्गुण संपन्न होते हैं। उनके अगाध सद्गुणों का वेद-शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

तन करि मन करि वचन करि, काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे संतजन, राम रूप जग माहिं॥ 23॥

जो शरीर से, मन से तथा वाणी से किसी पर दोषारोपण नहीं करते। गोस्वामी जी कहते हैं, ऐसे संतजन संसार में रामरूप हैं। वैसे तो न दूसरों का दोष कहो न सुनो। अपना ही दोष बहुत है। उसे देखो, सोचो और निकालो। संतत्व का लक्षण है कि किसी का दोष न देखे न कहे।

मुख दीखत पातक हरै, परशत कर्म बिलाहिं।
वचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग्य मिलाहिं॥ 24॥

ऐसे संतों के दर्शन से मन के मैल दूर होते हैं, उनके चरण स्पर्श से

सारे कर्म विलीन होते हैं, और उनके वचन सुनने से मन मोह से मुक्त हो जाता है। पूर्व जन्म का सौभाग्य जिसका होता है उसको ऐसे संतजन मिलते हैं।

अति कोमल अरु विमल रुचि, मानस में मल नाहिं।
तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं॥ 25॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि संत का मन अत्यन्त कोमल और विनम्र होता है। उनकी रुचि पवित्र होती है तथा उनके मन में मैल नहीं होता है। उनका मन सदैव अपने साहेब, स्वामी, आत्माराम में लीन रहता है।

अपना साहेब, अपना राम, अन्तरात्मा है। संत सदैव राम में, आत्मा में रमे हैं। कबीर साहेब भी कहते हैं, "राम न रमसि कौन डण्ड लागा, मरि जैबै का करिबे अभागा॥ बीजक, शब्द 21॥

जाके मन ते उठि गई, तिल तिल तृष्ना चाहि।
मनसा वाचा कर्मना, तुलसी वन्दत ताहि॥ 26॥

जिसके मन से तिल-तिल करके तृष्णा-चाहना मिट गयी है, जो निर्चाह हो गये हैं। गोस्वामी जी कहते हैं, मैं उनकी मन से, वचन से और कर्म से वंदना करता हूं। जो मनुष्य सब प्रकार की तृष्णाओं से सर्वथा छूट गया, वही जीवन्मुक्त है। वह जगत वंदनीय है।

कंचन काँचहि सम गनै, कामिनी काष्ठ पषान।
तुलसी ऐसे संतजन, पृथ्वी ब्रह्म समान॥ 27॥

जो कंचन को कांच के समान और कामिनी को काष्ठ-पाषाण के समान मानते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—ऐसे संतजन पृथ्वी पर ब्रह्म के समान हैं। **पृथ्वी ब्रह्म समान** अर्थात पृथ्वी पर वही ब्रह्म है, परमात्मा है। निष्काम पुरुष ही परमात्मा है।

कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत॥
तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रकट राम की देहा॥ 28॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि जो सोना को मिट्टी और कामिनी को लकड़ी-पत्थर के समान देखते हैं, जो विषयों के रस को भूल गये हैं, वे रामस्वरूप हैं, प्रत्यक्ष परमात्मा हैं।

आकिंचन इन्द्री दमन, रमन राम इकतार।
तुलसी ऐसे संतजन, विरले या संसार॥ 29॥

इस संसार में ऐसे संत विरले हैं जो थोड़ी वस्तुओं से निर्वाह लेते हैं, इंद्रिय-मन पर विजयी हैं और निरंतर राम में रमते हैं।

आकिंचन अकिंचन, दरिद्र, अपने को दरिद्र रखे। अर्थात साधक व्यक्तिगत जीवन के लिए ज्यादा धन न रखे। बस, कामचलाऊ धन रखे। "आवा गवा खर्च, साधू का मामला फर्च॥" जो कुछ आये, मिले वह खर्च हो जाय, बस। अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए ज्यादा न जोड़े, जो कुछ ज्यादा हो वह सामाजिक हो। यही रहनी गृहस्थ अपनाये तो वे भी बड़े सुखी रहेंगे। गृहस्थी में जो भी संपत्ति हो वह पूरे परिवार की हो। गृहस्थी में भी जहां व्यक्ति द्वारा ज्यादा जोड़ा गया, वहां राग-द्वेष बढ़ेंगे, परिवार टूटेगा, घर फूटेगा। आत्मसंयम और आत्मलीनता जीवन का परम फल है।

अहंवाद मैं तैं नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ।
दुख ते दुख नहिं उपजै, सुख ते सुख नहिं होइ॥ 30॥
सम कंचन काँचै गिनत, सत्रु-मित्र सम दोइ।
तुलसी या संसार में, कहत संतजन सोइ॥ 31॥

जिनमें अहंकारपूर्ण मैं-मैं, तू-तू की भाषा नहीं है, किसी प्रकार दुर्जनों की संगत नहीं है, जो प्रतिकूलता आने पर दुखी नहीं होते और अनुकूलता आने पर सुख में हर्षित नहीं होते, जो कंचन-कांच को समान समझते हैं, धन-दौलत की लिप्सा नहीं रखते, शत्रु-मित्र में समता का बरताव करते हैं, गोस्वामी जी कहते हैं कि इस संसार में वे ही संत कहलाने योग्य हैं।

विरले विरले पाइए, माया त्यागी संत।

तुलसी कामी कुटिल कलि, केकी केक अनंत॥ 32॥

गोस्वामी जी कहते हैं, माया-त्यागी संत संसार में विरले-विरले होते हैं। "केकी केक" मोर-मोरिन देखने में सुन्दर, बोलने में मधुर किंतु खाते हैं सांप, ऐसे ही सुन्दर वेष बनाये कामी-कुटिल लोग कलिकाल में बहुत घूमते हैं।

मैं-तैं मेट्यो मोह तम, उग्यो आत्मा भानु।
संत राज सो जानिए, तुलसी या सहिदानु॥ 33॥

गोस्वामी जी कहते हैं संत सम्राट उन्हें समझो जिनके हृदय में आत्मज्ञान का सूरज उग आया है और उनके जीवन से अहंता-ममता, मोह-वैर की अंधियारी मिट गयी है।

को वर्णै मुख एक, तुलसी महिमा संत की।
जिन्ह के विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत॥ 34॥

गोस्वामीजी कहते हैं कि एक मुख से संत की महिमा कौन कह सकता है? जिसके निर्मल विवेक है, ऐसे संतों की महिमा हजार मुख से शेष जी भी नहीं कह सकते और शिव जी भी नहीं कह सकते।

शेष जी हजार फण वाले माने गये हैं। पूरी दुनिया में कुछ रूपक युक्त कथन होते हैं, कुछ कहावतें होती हैं। वैसे ही यह कहावत है कि शेष जी हजार मुख वाले हैं। किसी की महिमा में कहना है तो कहते हैं, भई, शेष जी भी अपने हजार मुख से नहीं कह सकते। कोई शेष जी ऐसा नहीं रहा होगा जो हजार मुख वाला हो। कहने का मतलब है संत की महिमा अनंत है, अवर्णनीय है।

महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सो तदपि, महिमा लिखी न जाइ॥ 35॥

गोस्वामी जी कहते हैं पृथ्वी को कागज बनाया जाय, समुद्र को स्याही बनाया जाये, कल्पवृक्ष को कलम बनाया जाय और गणेश जी को लेखक बनाया जाय। क्योंकि वे बड़े लेखक थे, और महाभारत लिखे थे। कहावत

है कि वेदव्यास जी बोलते गये और गणेश जी लिखते गये। गणेश जी द्वारा भी संत की महिमा लिखी नहीं जा सकती है। जितनी लिखे अधूरी ही रहेगी।

धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्र वर सोइ।
तुलसी जो रामहि भजै, जैसेहुँ-कैसेहुँ होइ॥ 36॥

गोस्वामी जी कहते हैं, वे माता–पिता धन्य हैं, जिन्होंने संत पैदा किया, और वह पुत्र धन्य है जो संत रूप प्रकट हुआ। चाहे जैसे, चाहे जहां पैदा हुआ हो; यदि राम–भजन करता है, साधना में लीन है, वह धन्य है।

तुलसी जाके बदन ते, धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥ 37॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि जिसके मुख से धोखे से भी राम शब्द निकलता है, मैं अपने शरीर के चाम को निकाल कर उसके जूते बनाकर उसके पैरों में डालना चाहता हूं।

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥ 38॥

गोस्वामी जी कहते हैं भगत हो, भले ही वह भंगी हो, वह उत्तम है, क्योंकि वह रात–दिन राम का भजन करता है। यदि कोई ऊंचे कहे जाने वाले कुल का है, किंतु हरिभजन–रहित है तो किस काम का है?

अति ऊंचे भूधरिन पर, भुजगन के स्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान॥ 39॥

गोस्वामी जी कहते हैं बहुत ऊंचे स्थान पर्वत पर सांप रहते हैं, और अति नीची जमीन में, समतल भूमि में ईख और अन्न पैदा होते हैं और पानी टिकता है। कल्पित जाति–वर्ण से कल्याण होने वाला नहीं है, अपितु विनम्रता, भक्ति, स्वरूपज्ञान और वैराग्य से कल्याण होता है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

3 अक्तूबर, 1995 ई०)

नवां प्रवचन

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब कोई॥ 40॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि जो राम का एकनिष्ठ भक्त है और हर क्षण प्रति श्वास राम में रम रहा है, उसके समान कोई नहीं है, मैं बहुत देखभाल तथा समझ-बूझ कर कहता हूं।

यदपि साधु सबही विधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥
यह दिन रैन नाम उच्चरै। वह नित मान अगिन मह जरै॥ 41॥

यद्यपि साधु लौकिक दृष्टि से उच्च कहे जाने वाले कुल में जन्मा न हो, धनवान न हो, विद्वान न हो, लोगों में प्रतिष्ठित न हो, गुरु न हो, और सब प्रकार से लौकिक दृष्टि से हीन लगता हो; तो भी ऊंचे कहे जाने वाले उसकी समता में नहीं हो सकते। क्योंकि यह हरिभजन में लगा है, आत्मशोधन में लगा है, और ऊंची जाति का कहा जानेवाला रात-दिन अहंकार में जलता है कि मैं ऊंची जाति का हूं।

मैं मनुष्य हूं, यही वास्तविकता है। जिसको ऊंची जाति कहा जाता है, उसमें जन्मने से कोई कल्याण नहीं, और जिसको नीची जाति कहा जाता है, उसमें जन्मने से कोई अकल्याण नहीं। कल्याण तो वासना के त्याग से होगा। मानव जीवन ही ऊंचा जीवन है। मानव में क्या छोटा-बड़ा है?

दास रता यक नाम सो, उभय लोक सुख त्यागि।
तुलसी न्यारो ह्वै रहै, दहै न दुख की आगि॥ 42॥

गोस्वामी जी कहते हैं, रामभक्त सांसारिक सुख और स्वर्ग के कल्पित सुख को त्याग कर राम भजन में लीन है। वह सारे अहंकारों से अलग हो

जाता है। वह दुख की आग में नहीं जलता।

अहंकार ही दुख की आग है। यहां तक ग्रंथकार ने संतों की महिमा में कहा है। आगे शांति का वर्णन करते हैं।

रैन को भूषन इंदु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञानु॥ 43॥
ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन सांतिपद, तुलसी अमल अदाग॥ 44॥

गोस्वामी जी कहते हैं, रात की शोभा चंद्रमा है, दिन की शोभा सूरज है। साधक की शोभा भक्ति करना है, भक्ति की शोभा आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान की शोभा ध्यान में डूबना है, ध्यान के परिपक्व होने की शोभा त्याग है; और त्याग की शोभा निर्मल, निर्दोष शांति-पद की प्राप्ति है।

सच्चा साधक समर्पित और सेवा-परायण होता है। उसकी शुद्ध भक्ति से सद्‌गुरु का दिया हुआ आत्मज्ञान जीवन में चरितार्थ होता है। आत्मज्ञान का अर्थ ही है कि सबकुछ चित्त से उतार कर केवल आत्मलीनता की साधना में लग जाना। जो अंतर्मुख हो जाता है वह विषय-भोगों एवं मान-प्रतिष्ठा के मोह को त्याग देता है। जिसकी सारी सांसारिक ऐषणाएं नष्ट हो गयीं, वह निर्मल, निर्दोष शांति-सागर में निमज्जन करता है।

कोई कहे कि मैं भक्ति करता हूं और उसको ज्ञान नहीं है, तो उसकी भक्ति भक्ति नहीं है। कोई कहे मुझे ज्ञान है लेकिन चित्त में एकाग्रता नहीं है, ध्यान नहीं सधता है, तो ज्ञान अधूरा है। कोई कहे ध्यान है, एकाग्रता है और जीवन में त्याग नहीं है तो ध्यान अधूरा है। कोई कहे मैं त्यागी हूं और अशांत है तो त्यागी कहां है? केवल बाह्य त्याग त्याग नहीं है, जब तक अन्तर अहंता-ममता का त्याग न हो। त्याग से निश्चित है चित्त शांत होता है, और जीवन की परम उपलब्धि शांति है।

अमल अदाग सांति पद सारा। सकल कलेस न करत प्रहारा॥
तुलसी उर धारै जो कोई। रहै आनन्द सिन्धु मह सोई॥ 45॥

शांति पद निर्मल निर्दोष है और जीवन का सार है। सारे क्लेश मिलकर उस पर प्रहार नहीं कर सकते, शांतात्मा को विचलित नहीं कर सकते। **बिजली परे समुद्र में कहा सकेगी जारि।** समुद्र के समान शांतात्मा पुरुष कभी विचलित नहीं होते। गोस्वामी जी कहते हैं, इस शांति को जो अपने हृदय में धारण करता है वह सदैव आनन्द-सागर में रहता है। जीवन का चरम और परम फल शांति है। सारा संसार कूड़ा-कबाड़ है, शांति ही जीवन का परम सुख है।

विविध पाप संभव जो तापा। मिटहिं दोष दुख दुसह कलापा॥

परम सांति सुख रहै समाई। तहँ उत्पात न भेदै आई॥ 46॥

परम शांति-सुख में जो लीन रहता है, उसके मन में कोई उपद्रव प्रवेश नहीं कर सकता। उसके अनेक पाप-कर्मों से उत्पन्न ताप, दोष, असह दुखों के समूह नष्ट हो जाते हैं। हमारे मन में पाप होता है, इसलिए ताप होता है, दुख होता है। किसी ने कितना सटीक कहा है—

देह को मैं मानना, सबसे बड़ा यह पाप है।

सब पाप इसके पुत्र हैं, सब पाप का यह बाप है॥

मैं देह हूं, यह मेरी देह है, यह मानना सबसे बड़ा पाप है। इस भव की वस्तुओं में ममता करना महा अपराध ही नहीं, महा पाप है। देखते-ही-देखते सब कुछ खो जाने वाला है। इस संसार में जो ममता बनाकर बैठा है, वह कितना धोखे में जी रहा है। मन के संताप इसी से होते हैं। हमारी ममता के फल में संताप होते हैं। ममता मिट जाने पर संताप की कोई संभावना नहीं होती।

शरीर में ऐसे-ऐसे दुख उत्पन्न होते हैं, जो दुसह होते हैं। शारीरिक व्याधि कभी-कभी किसी को ऐसी होती है जो असहनीय होती है। एक व्यक्ति शारीरिक रोग से इतने पीड़िते थे, उनके शरीर में इतनी जलन थी कि वे सह नहीं पाये और नदी में कूदकर शरीर छोड़ दिये। एक व्यक्ति शारीरिक व्याधि से इतने पीड़ित थे कि फांसी लगा लिये।

दुनिया के राष्ट्राध्यक्ष इस पर बारम्बार सोचते हैं कि आत्महत्या के लिए कानून बनाया जाय। व्यक्ति शारीरिक व्याधि से अत्यन्त पीड़ित हो तो वह

कानूनन आत्महत्या कर सके। परंतु इसके दुरुपयोग के डर से ऐसा नहीं करते। न सहने योग्य मानसिक दुख है। मानसिक दुख से पीड़ित निन्नाबे प्रतिशत लोग हैं। प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, मन का न होना, इन्हें आदमी सोच-सोचकर अपने दुख को दुसह बना लेता है। थोड़ी-थोड़ी बात को लेकर लोग पीड़ित हो जाते हैं। यह अज्ञान से संभूत है। शारीरिक पीड़ा प्रारब्धवशात है, जो आपको सहना होगा।

तुलसी ऐसे शीतल संता। सदा रहैं यहि भांति एकंता॥
कहा करे खल लोग भुजंगा। कीन्हें गरल सील जो अंगा॥ 47॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि उपर्युक्त शांति को धारण करने वाले संत सदैव एकान्त में रहते हैं। जो अपने अंगों को विषमय बनाये हैं, ऐसे सर्प-मय दुष्ट लोग, उन संतों का क्या कर सकते हैं। कबीर साहेब कहते हैं—

दुनिया सेती दोस्ती, परत भजन में भंग।
एका एकी राम से, या संतन के संग॥ कबीर साखी॥

दुनिया से दोस्ती करने पर भजन में भंग पड़ता है। इसलिए एकाएकी राम भजन में लगे रहो या संतों की संगत में लगे रहो। संत-संग साधक के लिए अभेद्य कवच है। संतों की संगत में रहकर कमजोर साधक भी संयम बना सकता है, और बलवान साधक अकेले रहकर भटक सकता है। जैसे पानी में रहकर कमल हरे-भरे रह सकते हैं, और पानी से अलग होते ही सूख जायेंगे। विशाल देव भी कहते हैं—

शुद्ध संग करि करि रहे, निश्चय भाव सुदेश।
टूटे बंधन जीव के, छूटे जगत कुदेश॥ विशाल वचनामृत॥

सदैव शुद्ध संग करके रहे और सुदेश, आत्मभाव का निश्चय रहे। स्वदेश = आत्मदेश, आत्मस्थिति ही सुदेश है। स्वरूपस्थिति में निवास करने के लिए मन में पक्का निश्चय रहे, तब जीव का बंधन छूटता है, और कुदेश छूटता है।

यह जगत ही कुदेश है। यह शरीर भी कुदेश है। यह शरीर परमाणुओं की ढेरी है। यहां सब कुछ बदलता है। अपने हाथ में कुछ है ही नहीं।

यहां जितना अहंकार करो, उतना थप्पड़ खाओ। क्षमा नाम की चीज इस प्रकृति में कहीं नहीं है। यहां मोह तथा अहंकार करके केवल चांटे खाना है। यह सारा संसार कुदेश है। सुदेश अपना आत्मदेश है। सारे संकल्पों को त्यागकर ही अपने देश में विश्राम हो सकता है। अतएव सारे संकल्पों को छोड़-छोड़कर रहना और अपने आत्म-देश में निवास करना है।

गुरु या संत के चित्र पर दृष्टि रखना, उनका ध्यान करना, बिन्दु पर दृष्टि रखना, शब्द श्रवण करना ये सब प्रारम्भिक साधनाएं हैं। जो राजपथ है, वह है संकल्पों का त्याग करना। यह बहुत सरल है। बिस्तर पर बैठे हो और संकल्पों का त्याग करते रहो, देखो अंदर क्या उठ रहा है? क्या-क्या इच्छा उठ रही है? काम-वासना तो नहीं उठ रही है? लोभ-वासना तो नहीं उठ रही है? ईर्ष्या तो नहीं उठ रही है? संकल्पों के त्याग का मतलब है कि कुछ भी संकल्प उठे उसे त्यागना है। क्योंकि संकल्प मात्र का त्याग समाधि है। लेकिन आरम्भिक दशा में तो विकारों का त्याग करे और अंत में सारे संकल्पों का त्याग करे। सारे संकल्पों का त्याग ही सच्चा भजन है। साधक साधु संगत में रहे और समय-समय से अकेला शांत हो जाय। **कहा करैं खल लोग भुजंगा।** खल लोग तो सांप की तरह हैं। वे क्या कर सकते हैं। **कीन्हें गरल शील जो अंगा।** जो अपने शरीर को विष से भरे हुए बना रखे हैं, और ईर्ष्या, द्वेष, निंदा, क्रोध में जलते हैं ऐसे मनुष्य निर्मल, शीलवान संतों का क्या बिगाड़ सकते हैं? जो शीतल हो गया है, जिसके मन में अहंकार का उद्रेक नहीं होता है, उसको कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता। इसी कसौटी के लिए सद्गुरु कबीर साहेब ने यह साखी कही है—

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।

कहहिं कबीर ता संत का, पला न पकरै कोय॥ बीजक, साखी 167॥

सब कुछ समझबूझ कर अनाड़ी हो जाय। अहंकार हमें शीतल नहीं होने देता है। चाहे किसी भी चीज का अहंकार है, अपने बड़प्पन का अहंकार, विद्वता का अहंकार, गुरुपने का अहंकार, महंतपने का अहंकार, सब झूठा है। सब अहंकार छोड़कर शीतल-शांत हो जाय, फिर उसका पल्ला कोई नहीं पकड़ सकता है।

अति सीतल अति ही अमल। सकल कामना हीन।

तुलसी ताहि अतीत गनि। वृत्ति सांति लयलीन॥ 48॥

उनको गुणातीत एवं मुक्त समझना चाहिए जो अत्यंत शीतल और अत्यन्त निर्मल हैं, समस्त कामनाओं से हीन हैं और आत्मस्थिति में लौलीन हैं।

संत अति शीतल, अति निर्मल और समस्त कामनाओं से मुक्त होते हैं। हमें अपने को कसना चाहिए। अगला आदमी क्षुब्ध हो जाय तो हम सह लें। सह लिये तो अपनी विजय है। फिर वह समझेगा। **अति ही अमल।** कोई दोष नहीं। एकदम निर्मल, एकदम निष्कपट चित्त साधक का होना चाहिए। **सकल कामना हीन।** सारी कामनाओं से हीन होना चाहिए, और शांति वृत्ति में लौलीन होना चाहिए। **तुलसी ताहि अतीत गनि।** गोस्वामी जी कहते हैं, उसको अतीत समझना, गुणातीत समझना जो अत्यंत शीतल, अति निर्मल, समस्त कामनाओं से हीन और आत्मस्थिति में, स्वरूपस्थिति में लौलीन रहता है। उसकी और कसौटी गोस्वामी जी ने आगे दो चौपाइयों में दी है।

जो कोइ कोप भरै मुख बैना। सन्मुख हतै गिरा सर पैना॥
तुलसी तऊ लेस रिसि नाहीं। सो सीतल कहिये जगमाहीं॥ 49॥

कोई अपने मुख से कोप भरकर वाणी बोल रहा हो, कटु शब्द कह रहा हो। वह वाणी कैसी हो जैसे–**गिरा सर पैना,** तीखे बाण के प्रहार के समान। **तुलसी तऊ लेस रिसि नाहीं।** गोस्वामीजी कहते हैं, इतने पर भी थोड़ा भी क्रोध न जगे **सो सीतल कहिये जग माही।** उसको जगत में शीतल कहना चाहिए। इस कसौटी में हमें अपने को कसना चाहिए।

यहां सब किसलिए आये हैं? साधु बनकर पुजाने के लिए आये हैं! यह महा धोखा है। साधु क्या, हम एक साधारण मनुष्य हैं। हम सेवा, साधना, भक्ति करके अपने मन को मांजने के लिए आये हैं। किन्तु हम धोखे में पड़ जाते हैं। कुछ दिनों में साधु के कपड़े मिल गये, फिर मान लिये कि हम साधु हैं। अब एक ही काम बचा है, लोग हमें पूजें। और कोई उद्देश्य नहीं है। ऐसे लोग गड्ढे में जाते हैं। अपने आपको पूर्ण सम्हाले बिना गुरु बनना बहुत दुखदायी है। गुरु न बने तो अच्छा है। अपने आप

को सम्हाल ले तो भी स्वच्छन्द रहे। गुरु बनकर तो झंझट ही है। चेलों का मन देखो, समझाओ, बुझाओ, रास्ते पर लगाओ, जो न माने उसे भी समझाओ, यह सब परेशानी ही तो है। यह झंझट है। इसलिए गुरु बनने से बचना चाहिए। जो लोग गुरु बन गये, वे झेलें। लेकिन उनको अपने को सम्हाल कर रहना चाहिए, कहीं फिसलन न हो। ज्यादातर गुरु लोग तो खीझते रहते हैं, पीड़ित रहते हैं, असंतुष्ट रहते हैं।

जिज्ञासा, मुमुक्षा, साधुत्व, संतत्व और गुरुत्व ये पांच क्रम हैं। ज्ञान की इच्छा होना जिज्ञासा है, किसी–किसी के मन में ज्ञान की जिज्ञासा होती है। ज्ञान को जानकर मोक्ष की इच्छा होना मुमुक्षा है। जिनको मुमुक्षा होती है, उनमें कुछ साधक होते हैं। जो साधना करते हैं, वे साधु हैं। मन के युद्ध में कभी हार जाते हैं, और कभी जीत जाते हैं। पूर्ण रूप से मन पर विजय हो गयी तब संत हैं। जो कभी उद्वेगित नहीं होता, कामवासना का प्रभाव मन में नहीं और किसी प्रकार का विकार नहीं, उसका मन निर्मल होता है। यह संत दशा है। इस संत दशा में ठहर कर ही गुरुवाई का काम करना चाहिए। इसलिए गुरु बनने से बहुत डरना चाहिए। गुरु बनने से अपना तो कोई लाभ नहीं है, यह पक्का है। जो गुरु बनता है वह समझ ले, गुरुवाई से अपना रत्तीभर लाभ नहीं है। हां, सावधान न रहे तो नुकसान हो सकता है।

हम साधु मार्ग में अपना कल्याण करने के लिए आये हैं। यहां न तो गुरु बनने आये हैं, न संस्था चलाने आये हैं, न शिष्य बनाने आये हैं, न पुस्तक लिखने आये हैं, न प्रचार–प्रसार करने आये हैं, न भाषण करने आये हैं, किन्तु मोक्ष लेने आये हैं, सारी वासनाओं को त्याग कर अपने जीवन को निर्मल कर कृतार्थ होने आये हैं। यह सच है कि कोई गुरु हमें आधार देता है और वह सब कुछ सहकर निभाता है, तब जिज्ञासुओं का हित होता है। इसमें गुरु आधार होता है, ग्रंथ आधार होता है, आश्रम आधार होता है, उपदेश आधार होता है, शिक्षा आधार होती है। आधार लेना–देना संबंध है। उसी मोक्ष के लिए यह सब कुछ है। किन्तु मोक्ष पीछे हो गया और मठ बड़ा हो गया, प्रचार बड़ा हो गया, पुजापा बड़ी हो गयी। जब यह स्थिति आती है, तो साधक उत्तेजना में पड़ा रहता है। जो काम करना चाहिए वह नहीं करता है। जो हमारा सम्मान करते हैं, उनसे हमारा

कोई लाभ होने वाला नहीं है। जो हमारा अपमान करते हैं, कटु कहते हैं, उनसे हमारा लाभ होगा। क्योंकि हम अपने दोष को देखकर सुधारेंगे। इसलिए हम अपने को सम्हालें। इस मार्ग में जो भी आये हैं वे समझें कि अपने मन को मांजकर साफ कर लेना है, निर्मल कर लेना है, मोक्ष प्राप्त कर लेना है। जिसके अंदर कूड़ा-कचड़ा होता रहता है वह नहीं समझता है कि हम किसलिए आये हैं। जो सब स्थितियों को सहकर शीतल, शांत-निर्मल चित्त रहता है, गोस्वामी जी कहते हैं वही संत है।

सात दीप नौ खण्ड लौं, तीनि लोक जग माहिं।
तुलसी सांति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं॥ 50॥

सात द्वीप, नौ खण्ड और तीन लोक संसार में शांति के समान और कोई दूसरा सुख नहीं है। राम सब सुख के घर हैं तो शांति की क्या जरूरत है? समाधान यह है—

जहां तोष तहाँ राम है, राम तोष नहीं भेद।
तुलसी पेखि गहत नहिं, सहत विविध विधि खेद॥

सार यह है कि संतोष एवं शांति ही राम की प्राप्ति है। राम तो स्वतः आत्मा है। जब वह जगत-कामना त्यागकर पूर्ण संतुष्ट हो गया तो यही राम की प्राप्ति है।

जहाँ सांति सद्‌गुरु की दई। तहाँ क्रोध की जर जरि गई॥
सकल कामवासना बिलानी। तुलसी यहै सांति सहिदानी॥ 51॥

जहां सद्‌गुरु की दी हुई शांति है वहां क्रोध की जड़ (अहंता-ममता) जल जाती है और सारी कामनाएं-वासनाएं विनष्ट हो जाती हैं। गोस्वामी जी कहते हैं कि शांति का यही लक्षण है—पूर्ण निष्काम और निर्मान हो जाना।

सद्‌गुरु स्वयं शांत स्वरूप हैं। उनके दर्शन तथा सान्निध्य से निश्छल साधक अपने आप शांति पायेगा। सद्‌गुरु शांति देते हैं यह बात सच है। सद्‌गुरु की तरफ कोई उन्मुख न हो तो साथ में रहते-रहते भी कोरा का कोरा रहेगा। जहां सद्‌गुरु ने शांति दी, उस साधक की क्रोध की जड़ जल

गयी, और सारी काम-वासनाएं विलीन हो गयीं, यही शांति की पहिचान है।

तुलसी सुखद सांति को सागर। संतन गायो करन उजागर॥
तामें तन मन रहै समोई। अहं अगिन नहिं दाहै कोई॥ 52॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि शांति-समुद्र ही सुखदाई है। संतों ने इसकी महिमा उघाड़ कर गायी है। इसमें यदि कोई अपने तन-मन को लीन कर दे, तो उसे किसी प्रकार से भी अहंकार की आग जला नहीं सकती।

अहंकार की अगिन में, दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचे संत जन, केवल सांति अधार॥ 53॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि अहंकार की आग में सारा संसार जल रहा है। संसार में शांति का आधार लेकर केवल संत उससे बचते हैं। जो अहंकार से बच रहा है वही संत है। कपड़े से कोई संत नहीं होता। जो शांति में है, वही संत है। सद्गुरु रामरहस साहेब ने कहा है—

हंता मा सब ही पड़े, हंता देखे साध।
हंता ते न्यारा रहे, गुरुमुख दृष्टि अबाध॥ पंचग्रंथी॥

सारा संसार अहंकार में पड़ा है, जो अपने अहंकार को देखे और उसे त्यागे वह संत है।

महां सांति जल परसि कै, सान्त भये जन जोइ।
अहं अगिन ते नहिं दहै, कोटि करे जो कोइ॥ 54॥

महान शांति रूपी जल का स्पर्श करके जो शांत हो गये, चाहे कोई करोड़ों उपाय करे, परन्तु वे अहंकार की अग्नि में नहीं जलते।

तेज होत तन तरनि को, अचरज मानत लोइ।
तुलसी जो पानी भया, बहुरि न पावक होइ॥ 55॥

उन शांत सन्तों का शरीर सूर्य का-सा तेजवान हो जाता है। उनका

प्रभाव बढ़ जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि जो जल के समान शीतल हो गया है, वह आग के समान दाहक नहीं हो सकता।

यद्यपि सीतल सम सुखद, जग में जीवन प्रान।
तदपि सांत जल जनि गनौ, पावक तेज प्रमान॥ 56॥

यद्यपि शांतात्मा पुरुष शीतल होते हैं, सम और सुखद होते हैं। शांति ही उनका जीवन प्राण होता है। लेकिन साधारण जल के समान उनको मत समझना। वे आग के समान तेजवान होते हैं।

जरै बरै अरु खीजि खिझावैं। राग-द्वेष महँ जन्म गवाँवैं॥
सपनेहु सांति नहीं उन देही। तुलसी जहाँ तहाँ व्रत एही॥ 57॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने मन के उद्वेगों की आग में जलते हैं, स्वयं उद्वेगित रहते हैं और दूसरों को उद्वेगित करते हैं। जिनके मन की ऐसी दशा है उनके जीवन में स्वप्न में भी शांति नहीं हो सकती।

दोहा

सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई संत सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान॥58॥
सोइ ज्ञानी सोई गुनी, सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित्त भई, राग द्वेष की हानि॥59॥

गोस्वामी जी कहते हैं, वही पंडित है, वही पारखी है, वही समझदार है, वही सचेत और सुभट शूरवीर है, वही प्रामाणिक है, वही ज्ञानी है, वही गुणवान है, वही दानी है और वही ध्यानी महात्मा है, जिसके चित्त से राग-द्वेष पूर्ण निवृत्त हो गये हैं।

कबीर साहेब का शरीरांत होने के बाद गोस्वामी जी जन्म लेते हैं और कुछ वर्षों के बाद उनका कार्य-क्षेत्र काशी होता है। उन्हें अनेक बार पारखी संत कबीर चौरा में मिले होंगे। पंडितों और ब्रह्मज्ञानियों का गढ़

काशी रहा ही। गोस्वामी जी ने मानो उन सबके बीच यह सहज सत्यता की बात कही कि पंडित, पारखी, बुद्धिमान, वीर, सावधान, प्रामाणिक, ज्ञानी, गुणी, दाता और ध्यानी वही है जिसके मन में राग-द्वेष नहीं हैं।

राग-द्वेष की अग्नि बुझानी। काम क्रोध वासना नसानी॥
तुलसी जबहिं सांति गृह आई। तब उर ही उर फिरी दोहाई॥ 60॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि जिनके चित्त के राग-द्वेष की आग बुझ गयी है, काम-क्रोध की वासना नष्ट हो गयी है और हृदय रूपी घर में शांति पूर्ण रूप से आ गयी है; उनके हृदय में पूर्ण स्वराज्य हो गया। आत्मा द्वारा आत्मा में संतुष्ट हो गया, **तब उर ही उर फिरी दोहाई**। अर्थात दिल ही में दिल शांत हो गया। कबीर साहेब भी कहते हैं–

जग लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं॥

(बीजक, साखी 296)

फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि॥ 61॥

गोस्वामी जी कहते हैं, राग-द्वेष मिटकर शांति प्राप्त होने पर हृदय में राम की दोहाई फिर गयी और काम-क्रोधादि भाग गये, जैसे सूर्य के उदय होते ही तुरंत अंधकार नष्ट हो जाता है।

राम अंतरात्मा है, उसका साम्राज्य हृदय में हो गया, फिर विश्राम ही विश्राम है। कबीर साहेब भी कहते हैं–

निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो।

(बीजक, कहरा 7)

निर्भय होकर, आत्मस्थ होकर गुरु की नगरी में विश्राम करो। गुरु की नगरी सगुण रूप से सत्संग है और निर्गुण रूप में स्वरूपस्थिति है।

यह विराग संदीपनी, सुजन सुचित सुनि लेहु।

अनुचित बचन बिचारि के, जस सुधारि तस देहु॥ 62॥

गोस्वामी जी कहते हैं, ऐ सज्जनो! सावधानी से इस वैराग-संदीपनी को सुन लो, इसमें यदि अनुचित वचन हो, तो उसे जैसा उचित समझो वैसा सुधार कर रख दो।

गोस्वामी जी जैसे महान पुरुष के वचनों में मैं क्या सुधारूं। हां! मैं इतना ही कहूंगा कि उन्होंने जो श्रीराम को अपना परम आराध्य मान लिया है, उसी को साधक शोध लें। हृदय निवासी चेतन राम ही सार्वभौमिक उपासनीय है। श्रीराम हमारे पूज्य हैं, पितामह हैं, आदरणीय हैं। लेकिन न वे अनंत ब्रह्माण्ड नायक हैं और न हमारा उद्धार करने वाले। उद्धार सद्गुरु का आधार लेकर स्वयं साधना से होता है। अनंत ब्रह्माण्ड नायक कोई ऐसा नहीं है जो पूरी सृष्टि को चलाता हो। न ही महाराज श्रीराम, न महाराज श्री कृष्ण और न कोई अन्य चलाता है। किन्तु सृष्टि एवं जगत प्रकृति के नियमों से स्वयमेव चल रहा है। जो हमारा लक्ष्य है, वह हृदय निवासी राम में विश्राम है। तथ्य गोस्वामी जी भी कहते हैं–

सात द्वीप नौखण्ड में, तीन लोक जग माहिं।
तुलसी सांति समान सुख, अपर दूसरा नाहिं॥

जहाँ तोष तहाँ राम है, राम तोष नहिं भेद।
तुलसी पेखि गहत नहिं, सहत विविध विधि खेद॥

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
15 अक्तूबर, 1995 ई०)

सद्गुरवे नमः

वैराग्य त्रिवेणी

पूरण वैराग्य शतक

दसवां प्रवचन

आज से सुबह-सुबह परम वैराग्यवान सद्गुरु श्री पूरण साहेब रचित 'वैराग्य शतक' पर कहा जायेगा।

पूरण परख प्रकाश गुरु, सुख स्वरूप कबीर।
बन्दत हौं तव चरण युग, हरण काल की पीर॥ 1॥

कबीर पूर्ण पारख प्रकाश स्वरूप हैं, सद्गुरु हैं और सुखस्वरूप हैं। आपके दोनों चरणों की मैं वंदना करता हूं। आप काल की पीड़ा को हरने वाले हैं।

सद्गुरु कबीर साहेब देह से तो आज हैं नहीं, फिर उनके चरणों की वंदना कैसे हो सकती है? विदेहमुक्त हैं, सुखस्वरूप हैं, यही कहा जा सकता है। श्री काशी साहेब ने कहा है, सुख स्वरूप जीव नहिं जानो। तब प्रश्न होता है, सुख स्वरूप कैसे हैं? दुख नहीं है, यही सुख है। यदि किसी को दुख न हो तो सुख की गर्ज न लगे। क्योंकि सुख की गर्ज एक दरिद्रता है। दरिद्र आदमी ही सुख खोजता है, धनी सुख नहीं खोजता। जैसे भूखा आदमी ही रोटी खोजता है, जो तृप्त है वह रोटी क्यों खोजेगा! ऐसे ही जो

सुखी है वह सुख क्यों खोजेगा! सुख की खोज का मतलब है हम दरिद्र हैं। जीव सुखस्वरूप है, मतलब उसमें दुख नहीं है बस, यही सुख है। दुख के नाते बाहरी सुख की कल्पना होती है, दुख न रहने से बाहरी सुख की कल्पना नहीं होती। जहां दुख नहीं, अभाव नहीं, असंतोष नहीं, कष्ट नहीं, तो सुख की ख्वाहिश कैसे हो? हमने आदतें बना रखी हैं और उन आदतों में हम सुख खोजते हैं। जबकि आदतें ही दुख बन जाती हैं। दुख न होना ही सुख है।

जो वर्तमान में ज्ञान–वैराग्य–सम्पन्न हैं, जिनका मन निर्मल है; जिनका राग समाप्त है, वे सद्‌गुरु हैं, पारख–प्रकाशी और कबीर हैं। उन्हीं के चरणों की वंदना संभव है। वे ही हमारे काल की पीड़ा को हर सकते हैं। वे ही हमें शोध–बोध दे सकते हैं, रास्ता बता सकते हैं। सद्‌गुरु कबीर ने जो रास्ता बताया उस रास्ते को बताने वाले आज के पारखी संत–गुरु हैं। सद्‌गुरु कबीर साहेब का शरीर नहीं रहा। उनका केवल ज्ञान रहा। उसी ज्ञान को लेकर संत–गुरु हमारे तक पहुंचाते हैं। इसलिए सद्‌गुरु कबीर का ज्ञान स्मरणीय है। किन्तु वर्तमान के कबीर की जरूरत है। जो वर्तमान में उस आचरण से चलते हैं, और हमें रास्ता दिखाते हैं, वे मानो कबीर साहेब ही हैं। आज सद्‌गुरु कबीर साहेब की वंदना करना, स्मृति में उपकार मानकर वंदना है। वे कुछ सुन नहीं सकते, जान नहीं सकते। उन्होंने तो अपना काम कर लिया और शरीर छोड़ दिया। अब जो उनका ज्ञान है, वह लेना है। बीच के संत उस ज्ञान को सुरक्षित रखे इसलिए वे सब वंदनीय हैं। वर्तमान के बोधदाता संरक्षक जिनकी कृपा से, जिनके साहचर्य से, जिनकी रहनी–गहनी से, जिनके वचन से हमारा हित होता है, वे भी वंदनीय हैं। इस प्रकार आदि सद्‌गुरु कबीर साहेब, मध्य के संत, वर्तमान के सद्‌गुरु, बोधदाता संत ये सब स्मरणीय हैं, पूजनीय हैं, वंदनीय हैं। इन्हीं से हमारे मन की पीड़ा मिटेगी। संसार के सभी वैराग्यवान संत वंदनीय हैं।

काल पीर तिनकी मिटी, जिनको दृढ़ वैराग्य।
तेहि बिन जिव सब दुखित अति, पचि पचि मरहिं अभाग॥ 2॥

काल की पीड़ा उन्हीं की मिटी जिनके मन में दृढ़ वैराग्य है। इस वैराग्य के बिना सब जीव दुखी हैं, और अभागे पच–पचकर मरते हैं।

यह न छूट जाय, वह न बिगड़ जाय, फलाना रूठ न जाय, ऐसे भोग मिलें, यह देख लूं, यह खा लूं, यह सुन लूं, यह भोग लूं, यह सब हमारे मन की दरिद्रता है। शरीर इंजन है, इसमें कुछ आहार डाल दो, और यह चलता रहे बस। यह जब रुक जायेगा, तब खत्म हो जायेगा। जब तक चलता है तब तक इसके लिए कुछ प्रबंध करना पड़ेगा। परन्तु खास काम है वैराग्य, निर्मोहता।

यह पक्का समझ लो, यहां तुम्हारा एक कण भी नहीं है। जिसको अपना मानते हो, वह धोखा है, महाधोखा है। इस धोखा से जागो। शरीर, उसके नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव आजकल में आकाश के समान शून्य हो जाने वाले हैं। इनकी फिर कभी स्मृति भी नहीं होगी और मिलना तो असंभव है। स्मृति भी असंभव है। जो वर्तमान में शरीर और प्राणी-पदार्थ हमारे चारों तरफ लिपटे हैं, इनका हमारा सम्बन्ध अंततः नहीं है। ऐसा समझकर दृढ़ वैराग्य होना चाहिए। सबसे अनासक्ति होना चाहिए। सदैव स्वरूप-विचार और वैराग्य-भाव बने रहें। ये भाव न होने से सब दुखित हैं। इसलिए सब पच-पच कर मरते हैं। राग-द्वेष, ईर्ष्या-निंदा, कलह-कल्पना, अनेक प्रकार के मानसिक ताप में जलते हैं। वैराग्य भाव बना रहे तो कहां राग, कहां द्वेष, कहां परदोष-दर्शन, कहां परनिंदा, कहां देहाभिमान?

इन्द्र दुखी ब्रह्मा दुखी, दुखी विष्णु सब देव।
शिव शेषादिक दुखित हैं, बिन वैराग्य न भेव॥ 3॥

इन्द्र दुखी है, ब्रह्मा दुखी हैं, विष्णु दुखी हैं, सब देवता दुखी हैं, शिव शेषादिक भी दुखी हैं। बिना वैराग्य के दुख का भेद कोई नहीं समझता है।

रेलवे के एक बड़े अफसर थे। जिनका शरीर बड़ा बुलंद, सुन्दर, जिनकी पत्नी सुन्दरी और स्वस्थ तथा सुन्दर-सुन्दर दो बच्चे। रुपये-पैसे से सम्पन्न, कुछ भी कमी नहीं थी। वे कहते थे, अंदर-अंदर से मैं खोखला हूं। मुझे कुछ रास्ता बताइए। मैंने कहा—क्या दुख है, बताओ! तब उन्होंने कहा, मैं समझ नहीं पाता हूं। आदमी दुख भोगता है, लेकिन समझ नहीं पाता है। बस, एक ही दुख है राग। राग के कारण हम भयभीत हैं, पीड़ित

हैं, चिंतित हैं, कलह में डूबे हैं। राग बड़ा प्यारा लगता है, और वही फोड़ा है, मवाद है, नरक है। बिना वैराग्य के दुख का भेद कोई समझ नहीं सकता। जब अखण्ड वैराग्य होता है, तब मन में दुख नाम की कोई चीज नहीं होती है।

राजा दुखी परजा दुखी, दुखी रंक प्रभु भेष।
धनवन्त निर्धन दुखी, निर्णय करिके देख॥ 4॥

निर्णय करके देखो, धनवान और निर्धन, राजा और प्रजा, दरिद्र और स्वामी तथा साधुवेषधारी वैराग्य के बिना सब दुखी हैं।

वैराग्य के बिना राजा दुखी हैं, प्रजा दुखी हैं, रंक दुखी हैं, प्रभु दुखी हैं। 'प्रभु' नाम स्वामी, बड़े-बड़े आचार्य, महामंडलेश्वर, जगद्गुरु, बड़े-बड़े पूज्य दुखी हैं। उनमें कुछ शुभाचार है, मर्यादा पा गये, धन-मठ पा गये, पूजे जाते हैं, वैराग्य ढीला है तब दुख के सिवा और क्या होगा। बिना वैराग्य के यह सब थोथा है। बाहर की मर्यादा सब थोथी है। महंत या बड़ा अधिकारी जो चुना जाता है, वह बड़ा सेवक है। समाज की गुलामी करने के लिए वह नियुक्त हुआ है। अपने को सरदार न माने! सेवा करना है उसे और वैराग्य से रहना है। अतः स्वामी लोग दुखी हैं। भेषधारी दुखी हैं। साधुवेष धरे हैं, लेकिन राग-द्वेष करते हैं। काम-वासना में जलते हैं। क्रोध-वासना में जलते हैं। परनिंदा में जलते हैं। परदोष-दर्शन में जलते हैं; तब भेष धरने से क्या होगा?

धनवान दुखी हैं और निर्धन दुखी हैं। निर्णय करके देखो, वैराग्य के बिना कोई सुखी नहीं होता।

तन धरि सुखिया कोइ नहीं, सब कोइ दुखिया लोग।
बिन वैराग्य ठहरै नहीं, कहा ज्ञान कहा योग॥ 5॥

शरीरधारी कोई सुखी नहीं। संसार के सब लोग दुखी हैं। क्योंकि वैराग्य नहीं है। बिना वैराग्य के कैसे ठहर सकते हैं? मन क्यों नहीं ठहरता है? क्योंकि मन में वैराग्य नहीं है। और राग से कोई फायदा नहीं। यदि भवितव्य के लिए सोचे, तो जो होना होगा सो होगा। जो नाशवान है वह स्थिर कैसे होगा? और जो प्रवाह है, वह रुक कैसे सकता है? जो होनी है

वह रुक कैसे सकती है? जो होना है वह तो होगा ही। हाय-तौबा मत करो! निष्फिक्र हो जाओ, निश्चिंत हो जाओ, निर्भय हो जाओ।

खुल खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
बाल न बांका करि सकै, जो जग बैरी होय॥ कबीर साखी॥

शुद्ध वैराग्य से जीवन व्यतीत करो, तो कोई तुम्हें संताप नहीं दे सकता है। यह मत सोचो कि बच्चे कैसे जीयेंगे, यह समाज कैसे चलेगा। ये सब अपने आप चलेगा। यह संसार, टूटा-फूटा है, और सब चलता भी रहता है। तुम अपने को चलाओ, अपने को ठहराओ। अपना काम है, अपने को जीवन्मुक्त करना।

कहा ज्ञान कहा योग। वैराग्य के बिना कहां ज्ञान और कहां योग है? बिना वैराग्य के ज्ञान किस काम का! वह वाचिक ज्ञान है। बौद्धिक ज्ञान कोई ज्ञान नहीं। वैराग्य युक्त ज्ञान, ज्ञान है। ज्ञान की परिभाषा वैराग्य है। ज्ञान की परिभाषा त्याग है। योग भी कैसा बिना वैराग्य के? योग चित्तवृत्ति का निरोध है। बिना वैराग्य के चित्तवृत्ति का निरोध असंभव है। इसीलिए योगदर्शन में पतंजलि महाराज वैराग्य की कील बराबर ठोंकते गये हैं। सांख्य कहता है "ध्यानं निर्विषयं मनः" मन का निर्विषय हो जाना ही ध्यान है।

आशा तृष्णा ना मिटी, मिटेउ न मन अनुराग।
कलह कल्पना ना गई, तब लग नहिं वैराग॥ 6॥

जब तक आशा-तृष्णा और मन का सांसारिक आकर्षण नहीं नष्ट हुए और कलह-कल्पना नहीं समाप्त हुई, तब तक वैराग्य नहीं है।

जितने साधक हैं, सब इस दोहे को याद कर लें। याद तो है ही और इससे अपने को रोज कसें, क्षण-क्षण कसें। यह साखी वैराग्य की कसौटी है। भोगों की आशा और जो प्राप्त है उसकी तृष्णा का त्याग। मन का अनुराग, मोह, खिंचाव, जो प्राणियों में, पदार्थों में, अनुकूल वस्तुओं में और व्यक्तियों में है, उसका त्याग। कलह झगड़ा। राग-द्वेष, परदोष-दर्शन, परनिंदा, झगड़ जाना ये सब कलह में आते हैं। अगर ये सब हैं तो वैराग्य नहीं है। सुख और दुख, मान और अपमान, राग और द्वेष, इन भावनाओं

को लेकर मन का द्वंद्व ग्रसित रहना कल्पना है। अगर ये सब हैं तो वैराग्य नहीं है। आशा मिट जाय, जो प्राप्त है उसमें संतुष्ट रहे और जो प्राप्त नहीं है, उसके लिए आकर्षण नहीं। अनुकूल से अनुकूल लोगों में कोई खिंचाव नहीं। किसी से वैर-विरोध नहीं। किसी की बुराई न करे। गोस्वामीजी कहते हैं–

तन करि मन करि वचन करि, काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे संत जन, रामरूप जग माहिं॥ वैराग्य संदीपनी॥

अपने शरीर से, मन से, वाणी से किसी को दोष नहीं लगाते हैं, वे संतजन जगत में रामरूप हैं।

सोई अखण्ड समाधि है, जहाँ अखण्ड वैराग।
सोई संत सोइ साधु है, सोई सिद्ध बड़ भाग॥ 7॥

अखण्ड समाधि कहां है? जहां अखण्ड वैराग्य है। सब कुछ के प्रति अनासक्त भाव होना सच्ची समाधि है। इसमें मन अचल हो जाता है, विश्राम पा जाता है। साधक को पूर्ण वैराग्य हो इस पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा अध्ययन, मनन, चिंतन रात-दिन करे। आत्मचिंतन में इस ढंग से डूबे कि अखण्ड वैराग्य उदय हो। किसी चीज के लिए कामना न हो। स्त्री-पुत्र, परिवार कोई छोड़ सकता है। घर-द्वार, माता-पिता छोड़ सकता है, लेकिन देह साथ में रहती है। देह का गुजर साथ है। देह को लेकर आदमी पचता है। गुजर-बसर को लेकर भी न पचे। जो कुछ मिल जाये रूखा-सूखा पेट में डाल ले तो उससे जो ऊर्जा मिलेगी बहुत पुष्टि देगी। किसी चीज की कल्पना न हो। अखण्ड वैराग्य जहां है, वहां अखण्ड समाधि है। जिसके जीवन में अखण्ड वैराग्य है, वही संत है, वही साधु है, वही सिद्ध है, वही सौभाग्यशाली है। अगर अनंत सुख चाहो, दुख नाम की चीज न चाहो, तो अखण्ड वैराग्यवान बनो।

बिन वैराग्य न मुक्ति है, बिन वैराग्य न ज्ञान।
बिन वैराग्य न भक्ति है, बिन वैराग्य नशान॥ 8॥

बिना वैराग्य के मुक्ति नहीं होगी। बिना वैराग्य के ज्ञान बेकार है। बिना

वैराग्य के भक्ति कैसे होगी? और बिना वैराग्य के नाश होना है, पतन होना है।

वैराग्य ढीला होता है, तब साधक पर दोष-दर्शन करने लगता है। यह गलत है, वह गलत है, गुरु में दोष-दर्शन, साधु में दोष-दर्शन, समाज में दोष-दर्शन, नियमों में दोष-दर्शन, हर बात में दोष-दर्शन शुरू हो जाता है। जिन-जिन लोगों के मन में वैराग्य घटा है, वे परदोष-दर्शन शुरू किये हैं और धीरे-धीरे पतन की तरफ गये हैं और अंततः पतित हो गये हैं। जिसके मन में वैराग्य होगा, वह परदोष-दर्शन कैसे करेगा? अपने दोष निकालो। सबसे गुण-ग्रहण करो और अपना कल्याण करो।

ताते मुख्य प्रधान है, सबको यह वैराग।
गुरू कृपा जापर भई, ते पावत बड़ भाग॥ 9॥

अतएव दुखों से सर्वथा छूटने के लिए सबके लिए अखण्ड वैराग्य ही मुख्य साधन है। वे वैराग्यवान परम सौभाग्यशाली हैं, जिनको वैराग्यवान सद्गुरु का साहचर्य और उपदेश रूप कृपा प्राप्त है। वे पूर्ण स्थिति पाते हैं।

हर व्यक्ति को वैराग्यवान होना चाहिए। क्या गृहस्थ के लिए भी वैराग्य जरूरी है? तो क्या गृहस्थ सुख नहीं चाहते? उनको भी वैराग्य जरूरी है। जो जितना अनासक्त होगा, वह उतना बादशाह होगा। बादशाहत सबको सुखद है। सांसारिक बादशाहत तो पीड़ाप्रद है। लेकिन जो वैराग्य से पूर्ण बादशाह हो तो क्या पूछना। महासुख है। अगर बादशाह होना चाहो तो अखण्ड वैराग्यवान होओ।

गुरु कृपा जापर भई, ते पावत बड़ भाग। साहेब कहते हैं—गुरु की कृपा जिन पर होती है, वे सौभाग्यशाली हैं। वे वैराग्य पाते हैं। गुरु की कृपा तो सब पर है ही, अपनी कृपा होनी चाहिए। यह सच है कि पात्रत्व होते हुए भी सहायक न हो तो उसका विकास नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यवान सद्गुरु-संत न मिलें, तो अपना वैराग्य का अंकुर झुलस जायेगा। वह ठंडा हो जायेगा। इसलिए सच्चे सद्गुरु की जरूरत है। वैराग्यवान हो, उनके पास अपना मन समर्पित हो तो निश्चित ही वैराग्य

दृढ़ होगा।

तिनको चरणोदक सही, तिनको महाप्रसाद।
तिनको दर्शन नित्य सही, जिनकी मिटी उपाध॥ 10॥

चरणोदक, महाप्रसाद और दर्शन उन्हीं के उचित हैं जिनकी उपाधि मिट गयी हो। हिन्दू समाज में जितने संप्रदाय हैं, उनमें चरणोदक चलता है। गुरु के चरण के अंगूठे में पानी का स्पर्श करके ले लिया जाता है, उसको चरणोदक कहते हैं। चरण + उदक = पैर का पानी। **तिनको महाप्रसाद** उनके खाने के बाद जो जूठन हो उसमें से कुछ लेना महाप्रसाद है। दर्शन–देखना। चरणोदक, महाप्रसाद यह रस्म है, जो चलता है। पहले ये रस्म बहुत था; अब घटा है। वास्तव में गुरु की आज्ञा मानना, उपदेश मानना, उसका आचरण करना सबसे बड़ी चीज है। दर्शन–साहचर्य यह तो अमोघ है, लेकिन यह सब उन्हीं के होने चाहिए, जिनकी उपाधि मिट गयी है। जिनके मन से पीड़ा विदा हो गयी है, उन्हीं के दर्शन, उन्हीं के चरणोदक, उन्हीं के महाप्रसाद उपयुक्त हैं।

तिनको बंदत हैं सबै, सुर नर मुनि औ भूप।
जिनके दृढ़ वैराग्य उर, मिटा राग तम कूप॥ 11॥

जिनके हृदय में दृढ़ वैराग्य है और राग का अंधकार हृदय से मिट गया है, उन्हीं को देवता, मनुष्य, मुनि, राजा सब आदर देते हैं। उन्हीं की वंदना करते हैं।

सनकादिक शुक भरत जड़, कपिलदेव सो जान।
और विदेही रघुगण कहैं, ऋषभदेव परमान॥ 12॥
कद्रू कर्दम विदुर जी, ये वैराग्य निधान।
अष्टावक्र पुनीत मुनि, किये शास्त्र परवान॥ 13॥
साह शिकन्दर बलख के, और भरथरी भूप।
गोपीचन्द गोरखन में, सब वैराग्य स्वरूप॥ 14॥

श्री पूरण साहेब उदारतापूर्वक कुछ वैराग्यवान संतों के नाम गिनाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि ये ही वैराग्यवान हुए हैं और नहीं हुए हैं। बड़े-बड़े वैराग्यवान हुए हैं, उनके नाम छूट गये। कहां तक नाम गिनाया जाय? इसका लक्षणा अर्थ यह है कि सभी वैराग्यवान पूजनीय हैं। चाहे वे जिस देश के हों, किसी मत-पंथ के हों, किसी काल के हों। जितने वैराग्यवान हैं सब पूजनीय हैं।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनतकुमार ये चार महा वैराग्यवान पुरुष हुए हैं। शुकदेव स्वामी महा वैराग्यवान हुए। इनके लिए कहा जाता है, जब ये माता के गर्भ से निकले तो नार-बेवार सहित भाग निकले जंगल को। सोलह वर्ष तक तो गर्भ में ही रहे। मानो, गर्भ में बड़ा सुख था। फिर निकले और नार-बेवार सहित जंगल को भाग खड़े हुए। लेकिन भागवत में ऐसी बात नहीं है। किन्तु वे जब यज्ञोपवीत के योग्य हुए और यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था तभी भाग निकले। वेदव्यास पुकारते-पुकारते पीछे-पीछे गये, परंतु वे कुछ न सुने, तो मानो जंगल ने ही उनको उत्तर दिया कि ऐसे वैराग्यवान के पीछे मत पड़ो। शुकदेव स्वामी महान वैराग्यवान हुए।

भरत राजा थे। वे वैराग्यवान हुए थे। लेकिन वे एक हिरनी के बच्चे में मोह कर लिए थे। तब फिर से उनको जन्म लेना पड़ा और हिरन होना पड़ा। पूर्वजन्म की बातें उन्हें याद थीं, इसलिए बड़ा दुखी रहते थे। वे हिरन की योनि में भी बहुत दुखी रहते थे और अपने दोषों से ग्लानि करते थे। उसके पश्चात एक ब्राह्मण के घर में जन्मे और उनको पूर्वजन्म की याद थी। इसलिए वे निश्चय कर रखे थे कि अब मोह कहीं और कभी नहीं करना है। माता-पिता यज्ञोपवीत कराना चाहे, उस पर भी वे ध्यान नहीं दिये। यज्ञोपवीत कर दिये, तो पर भी वे यज्ञोपवीत की कोई मर्यादा नहीं रखते थे। स्नान-दातौन तक न करते। कुछ भी नहीं करते। कोई खिला दे तो खा लें। किसी से नहीं बोलते कि बोलने से मोह होता है। बोलने से मोह होने पर बड़ी झंझट होगी। उनका जड़ भरत नाम पड़ा। क्योंकि जड़, मतलब जड़-मूढ़, बोलना न डोलना। इस प्रकार वे वैराग्यवान हुए। इसमें अतिश्योक्तियां हैं। उपदेश के लिए कहानी गढ़ी गयी कि हिरण में मोह किये थे इसलिए भरत फिर से जन्मे थे। तुम यदि कहीं चेला-चाटी में मोह कर लोगे तो तुम्हारी क्या दशा होगी।

कपिल देव महान पुरुष हुए हैं। सांख्य दर्शन के आचार्य कपिल थे। कपिल एक ऐसा समर्थ नाम है जो भारतीय परंपरा में यथार्थ ज्ञान और वैराग्य का मूर्तिमान स्वरूप है। उपनिषद् में भी कपिल की महिमा है। कपिल की परंपरा में बुद्ध ने शिक्षा पायी थी। कपिल से प्रभावित महावीर भी थे और कपिल का तत्त्वज्ञान जिसमें पुरुष और प्रकृति मिलाकर सब पच्चीस हैं, उसका वर्णन बारम्बार पुराणों में आता है। कपिल बहुत समर्थवान पुरुष हुए हैं। वे प्रज्ञावान, वैराग्यवान, बोधवान, सत्यद्रष्टा थे।

विदेही जनक को कहते हैं। रघुगण, कद्रू, कर्दम, विदुर, अष्टावक्र, बलख के शाह सिकन्दर, भर्तृहरि और गोपीचन्द तथा गोरखनाथ स्वयं और उनकी परम्परा में बहुत से योगी हुए जो वैराग्यवान पुरुष हुए हैं। किसी के मन की पीड़ा तभी मिटेगी, जब उत्तम वैराग्य उदय होगा, सब तरफ से अनासक्ति, सारे विषयों से घृणा होगी। अंत में जीव के साथ कुछ भी रहने वाला नहीं है। इसलिए सबसे वैराग्य, कहीं राग नहीं, कहीं मोह नहीं।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
27 अक्तूबर, 1995 ई०)

ग्यारहवां प्रवचन

विद्या को भय बाद को, तप को क्षय भय होय।
द्रव्य को नृप चोर भय, समुझ सयाने लोय॥ 15॥
सकल भोग को रोग भय, काया को भय काल।
सकल साधना इन्द्रिन भय, ताते होत बेहाल॥ 16॥
तरुणी को भय तरुणता, योगिन को भय नारि।
स्वर्गिन को भय अवधि को, हृदया देखु विचारि॥ 17॥
मंत्रन को भय यंत्र को, यन्त्रन को भय तन्त्र।
तन्त्रन को भय सिद्ध को, ताते नाहिं स्वतन्त्र॥ 18॥
सिद्धन को भय माया, माया को भय ज्ञान।
भयमान सकल सम्पत्ति अहै, ताते त्यागहु जान॥ 19॥
सज्जन को भय दुर्जन, मित्रन को भय हान।
मिलन को भय बिछुरन, आवन को भय जान॥ 20॥
पंडित को भय निन्दा, मूरख को भय मार।
रण में भय अति शत्रु को, कुल में भय अति नार॥ 21॥
कर्म अकर्महि पुण्य अघ, इष्ट अनिष्टहि जान।
उपासना विक्षेप भय, ज्ञान को भय अज्ञान॥ 22॥
चतुरन को भय मूरख, सत्यवादिन पाखण्ड।
दुखरूप सकल सुख जगत को, तैसहि सुख ब्रह्माण्ड॥ 23॥

सद्‌गुरु श्री पूरण साहेब ने इन अनेक साखियों में यह बताया है कि संसार भय से भरा है। विद्वान जो हो जाते हैं, उनको वाद-विवाद करने में रुचि हो जाती है। उसमें उन्हें हार जाने का डर हमेशा लगा रहता है। तपस्वी सोचते हैं, हमारे तप का कहीं क्षय न हो जाय। धन बढ़ गया तो

राजा, चोर, अग्नि इत्यादि का डर लगा रहता है। सारे भोगों के पीछे रोग का डर है। जितना भोग उतना रोग। काम–भोग रोगों का घर है ही। जो नित्य का आहार–विहार है, संयम न रखने से उसमें भी रोग हो जाते हैं। बहुत कम खाने से भी रोग होता है। लेकिन बहुत कम खाने वाला करोड़ों में एक होता है। तपस्वी तो है, लेकिन व्यावहारिक बोध नहीं है। शरीर–स्वास्थ्य की समझ नहीं है, और वे ऐसा कड़ा त्याग कर दिये कि अत्यन्त न्यून भोजन लेने लगे। दिन–दिन भर कुछ नहीं लेते हैं। दो–दो दिन में थोड़ा भोजन लेते हैं। तो वे रोगी हो जायेंगे, यह पक्का है। अधिक खाकर संसार के सर्वाधिक लोग रोगी होते हैं। आहार के विषय में तो इतना है कि जो सहज स्वच्छ सुपाच्य मिले उसे संतुलित रूप से ले तो पेट की कोई शिकायत न होगी। बीमारी दूर रहेगी, तन–मन स्वस्थ रहेंगे। हम मानते हैं कि संयम करने पर भी प्रारब्धिक रोग होता है। लेकिन वह विरल है, जो रात–दिन दुख भोगते हैं, वे अधिक खाते हैं। उनको पता नहीं रहता, ख्याल नहीं रहता और अधिक खा लेते हैं। जो मिले उसको भूख लगने पर चबाकर खाया जाये और कम खाया जाये, बस! इतने में सारी प्रोटीन और विटामिन्स मिल जायेगी। भोग में रोग का भय है। कामभोग इत्यादि आदमी छोड़ भी सकता है। लेकिन रोज–रोज जो खाने का भोग है, यह छोड़ा नहीं जा सकता है। और इसी में आदमी परास्त होता है। बिना विवेक के खा–खाकर रोगी बनते हैं।

काया को भय काल। शरीर के पीछे काल का डर है। सारी साधनाओं में इंद्रियों का डर है कि ये गिरा न दें। तरुणी स्त्री को अपनी जवानी का डर है कि कहीं ऊंचे–नीचे पैर न पड़ जायें। त्यागियों को स्त्रियों का डर है कि स्त्री–संगत से पतन न हो जाय। जितने साधक पतित होते हैं वे संग दोष से। संग दोष से हट कर रहें तो पतन होने का कोई चांस नहीं होगा।

स्वर्गिन को भय अवधि को। स्वर्ग प्राप्त करने वालों को अवधि का डर है। कल्पना है कि कहीं ऊपर आकाश में स्वर्ग है। भारतीय स्वर्ग की कल्पना ऐसी है कि कुछ समय स्वर्ग में रहकर फिर लौट आना है। यह हिन्दुओं के स्वर्ग की बात है। किन्तु सामी परंपरा (इस्लामी, यहूदी, ईसाई) का स्वर्ग ऐसा नहीं है। वहां एक बार स्वर्ग में गया तो हमेशा के

लिए गया और नरक में गया तो सदा के लिए नरक गया। ये सब काल्पनिक हैं।

मंत्र, यंत्र, तंत्र इनमें एक को दूसरे का भय है। मंत्र शब्दमय है। तंत्र–टोना–टोटका जैसा है। यंत्र कोष्टक इत्यादि है। कितने कोष्टक बनाकर उसमें कितने देवताओं का वास बताते हैं। इसमें भी एक से बढ़कर एक होते हैं। इनको करने वाले भी एक दूसरे से डरते हैं।

बहुत दिनों की बात है। मैं छत्तीसगढ़ में था। एक बैगा था। वह निमंत्रित था। भोजन करने आया। वह देखने में भी बैगा लगता था। वैसी उसकी वेष–भूषा थी। लोगों ने कहा, यह बैगा है। तो मैंने थोड़ा डपटकर कहा—बताओ, तुम क्या जानते हो? उसने घबड़ाकर कहा—कुछ नहीं जानन महाराज, कुछ नहीं जानन ! वह शायद मुझे बड़ा बैगा समझा हो कि ये हमें कुछ कर न दें !

इनमें भी एक–दूसरे का डर लगा रहता है। जो सिद्ध लोग हैं, उन्हें माया का डर है। मायावी जीव को ज्ञान का डर है। संसार की सारी चीजें भयपूर्ण हैं। सज्जनों को दुर्जन दुख देते हैं। लोगों को मित्र–हानि का डर है। मित्रता है और मित्रता कहीं छूट न जाये। मिलने का भय बिछुड़ना है। आने का भय जाना है। पंडितों की निंदा करने वाले लोग रहते हैं। मूर्ख को मार का भय लगा रहता है। रण में दुश्मन का भय है। कुल–परंपरा के पतन में स्त्री का भय है। स्त्री का कदम कहीं नीचे हो जाये तो हमारी इज्जत खराब हो जाये। कर्म में अकर्म का डर है। कर्म करते–करते अकर्म, गलत कर्म न हो जाये। पुण्य–कर्म के पीछे पाप–कर्म का डर है। इष्ट में अनिष्ट का डर है। इष्ट नाम हित, अनिष्ट नाम अहित। उपासना में विक्षेप का डर है। उपासना में चंचलता न आ जाये। **ज्ञान को भय अज्ञान।** ज्ञान में अज्ञान का भय लगा रहता है।

चतुर लोगों को मूर्ख लोग पीड़ित करते हैं। सत्यवादी को पाखण्ड का डर है। संसार में सब दुख रूप है। कहीं भी विश्राम नहीं है। दुनिया की चीजों में रमोगे तो भय के अलावा और कुछ नहीं मिलेगा। इनमें कुछ ऐसी भी बातें आई हैं; जैसे ज्ञान को अज्ञान का डर है। सत्य में पाखण्ड का डर है, तो क्या ज्ञान छोड़ दें, सत्य छोड़ दें। छोड़ने की बात नहीं है। बात तो यह है कि इस शरीर में रहकर शुभ–मार्ग में चलते हुए भी बराबर डर बना

रहता है। कुछ डर की जरूरत है भी। सब डर बेकार नहीं है। जैसे अपने से बड़ों का डर बहुत जरूरी है। इससे बहुत गलत काम नहीं होते हैं। अपनी इंद्रियों का डर कि हम कहीं गलत न कर जायें। मन का डर कि मन हमें भटका न दे।

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहे सो उबरै, गाफिल खाई मार॥ कबीर साखी॥

इसलिए इस डर की जरूरत है। अब दूसरा डर कि एकदम अविवेकी बन जाये कि मैं कुछ नहीं कर सकता हूं, मेरा कल्याण ही नहीं होगा और साहसहीन हो जाये, यह गलत है। लेकिन मन-वासनाओं का डर अपने कल्याण के लिए जरूरी है और उपासना के लिए, संरक्षण के लिए, अपने से बड़ों का डर जरूरी है। डर, अदब, लिहाज से काम चलता है। निरानिर ज्ञान की दशा में हर इंसान हर समय ठहरा नहीं रह सकता है। परिपक्व होने में समय लगता है। परिपक्व होने पर भी डर, अदब, लिहाज की जरूरत होती है। परिपक्व हो जाने पर भी जब तक जीवन है, डर की जरूरत है। **अजहूँ नाव समुद्र में, न जाने क्या होय।** इसलिए डरना तो जीवन भर है। **डरत रहे सो उबरै, गाफिल खाई मार।** गाफिल होगा, असावधान होगा, वह मार खायेगा।

जो लोग कहते हैं, हमें गुरु की जरूरत नहीं! हमें तो सब ऐसे ही ज्ञान हो जाता है। ऐसा पढ़े-लिखे लोग प्रायः कहते हैं—महाराज! गुरु न करें, तो काम नहीं चलेगा। अरे, तुम गुरु न करते तो बोल भी न पाते। जो कुछ बोल रहे हो, वह किसी गुरु ने सिखाया है। समाजशास्त्री बताते हैं कि कोई बच्चा ऐसी जगह पैदा करो, जहां सूनसान हो, और फिर मां उससे बात न करे, कुछ बोले न। उसकी सेवा कर दे, और कोई बोलने वाला न हो, बच्चे के पास। वह बड़ा हो, जवान हो जाय, तो वह बोल नहीं पायेगा। जो कुछ हम बोल रहे हैं, सीख से। भाषा का ज्ञान हमें हुआ है, वह शास्त्रों, पुस्तकों को पढ़ने से हुआ है। शास्त्रों को संतों से गुरुजनों से सुने तब ज्ञान हुआ है। शास्त्रों को पढ़े हैं तब ज्ञान हुआ। परंपरा से हमें ज्ञान मिला है, तब हम बोल रहे हैं, कह रहे हैं। नहीं तो कुछ भी ज्ञान न होता। अदृश्य रूप में न मालूम कितना ज्ञान हमें चारों तरफ से मिलता रहता है। लेकिन कुछ घमंडी लोग होते हैं जो समझते हैं कि गुरु की कोई जरूरत

नहीं है। गुरु की आवश्यकता है। एक गुरु ऐसा होता है जो विशेष होता है, जिसकी छत्रछाया में साधक कल्याण करता है। लेकिन और भी अनेकों गुरुओं, व्यक्तियों द्वारा ज्ञान मिलता है। इसलिए मानो पूरी सृष्टि ही हमारा गुरु है।

बसबो भलो एकांत को, छाड़ि सकल की आश।
जित अविवेकी नर सकल, कोई न आवै पास॥ 24॥
भल बसबो आरण्य को, शरद निशा को चन्द।
शीतल जल सरितान को, फल भक्षण स्वच्छन्द॥ 25॥

सबकी आशा त्यागकर एकांत में रहना अच्छा है। जहां अविवेकी मनुष्य कोई पास में नहीं आने वाला है। शरद निशा की चांदनी हो, जंगल का वास हो, सरिता का शीतल जल और जंगल का फल पी-खा लें और स्वच्छन्द रहें।

ये कथन आकर्षक लगते हैं। जंगल तो मिल जाता है लेकिन फल मिलना मुश्किल है। जंगल में कितना प्रघटनन हुआ है। आजकल तो जंगल में फल मिलना ही दुर्लभ है।

दोष दृष्टि जबहीं भई, तब उपजो वैराग।
दृढ़ निर्वेद जाको भयो, सोइ मुमुक्षु बड़ भाग॥ 26॥

जिसको विषयों में दोष-दृष्टि उत्पन्न होती है, उसके चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है। सब चीजों की नश्वरता जिसकी दृष्टि में हमेशा झलकती रहती है, उसके मन में कहीं मोह नहीं बनता। **दृढ़ निर्वेद जाको भयो, सोई मुमुक्षु बड़ भाग।** जिसके चित्त में दृढ़ निर्वेद हुआ। निर्वेद मतलब ग्लानि, दृढ़ वेदना, गहराई से सोचना, चिंतन करना। गहराई से सोचो शरीर-संसार को। जैसे, यह टेबल है। ऊपरी दृष्टि से टेबल है। थोड़ा विचार करें, तो लकड़ी है। थोड़ा और विचार करें तो मिट्टी है। थोड़ा और विचार करें, तो कणों का प्रवाह मात्र है। रासायनिक दृष्टि से अगर हम पदार्थों को देख पायें तो कोहरे के समान सारी चीजें नाचती हुई दिखाई देंगी। जो जितना विचारवान होगा, उतना उसके मन का मोह मिटता

जायेगा। वही मुमुक्षु बड़ा सौभाग्यशाली है जिसके चित्त में दृढ़ निर्वेद होता है। विषयों से अत्यन्त ग्लानि होती है। दृश्य अचानक जाने वाला है। और ऐसा जायेगा कि कुछ पता नहीं चलेगा कि कहां गया।

जो आदि में न हो, अंत में न हो, वह वर्तमान में होते हुए भी मानो नहीं है। शरीर पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा, तो वर्तमान में रहते हुए भी मानो नहीं है। जो कुछ भी हमारा अपना माना हुआ है, सब आदि में नहीं था और अंत में भी नहीं रहेगा तो वर्तमान में भी मानो नहीं है। ऐसा मानकर निर्मोह होओ। शरीर निश्चित है पहले नहीं था, और आगे नहीं रहेगा।

अन्त दशा ले आदि में, सोई साँच वैराग।
सो सुखिया तिहुँ लोक में, जाको निश्चय त्याग॥ 27॥

अपने माने हुए शरीर की मृत्यु आज ही देख लेना सच्चा वैराग्य है। वह मनुष्य पूरे संसार में सुखी है जिसके मन में सबकुछ के त्याग का निश्चय है।

अंतिम दशा को आदि में लो। शरीर की मृत्यु की दशा को अभी देखो। हमें यह सोचना चाहिए कि हमारा शरीर मर गया है। इसको गंगा के किनारे गाड़ दिया गया है, समाधि लगा दी गयी है। ऊपर से मिट्टी डाल दी गयी है और मिट्टी का धूह बना दिया गया। कुछ मिट्टी इधर-उधर बिखरी है। कुछ चीजें भी ऐसी हैं जो इधर-उधर पड़ी हैं। लोग वहां से लौट आये हैं। इस सत्य को देखो, आजकल में यह होना ही है। शरीर के अंत को देखने से कोई संताप नहीं होता, कोई दुख नहीं रहता। मेरे बाद क्या होगा? ऐसा सोचना महा मूर्खता है। संसार अनादिकाल से है, और सब समय होता रहता है और सब समय होता रहेगा। संसार का स्वभाव ही है होना। तुम अपने होने को देखो। तुम अपनी सत्ता-महत्ता को समझो। अपना घर समझो कि तुम्हारा घर कहां है?

साहेब साहेब सब कहैं, मोहिं अँदेशा और।
साहेब से परिचय नहीं, बैठोगे केहि ठौर॥ बीजक, साखी 181॥

सभी लोग साहेब, स्वामी, परमात्मा, राम, मोक्ष कहते हैं, लेकिन उनका परिचय नहीं है तब कहां बैठोगे?

साहेब, स्वामी, परमात्मा ऊपर नहीं है। यह आत्मा ही साहेब है। यह जीव ही साहेब है। अपने स्वरूप में स्थित होना ही सत्य-धाम में स्थित होना है। कितने लोग वैराग्यवान हैं, लेकिन स्वरूप का ज्ञान नहीं है। तो उनका भी भटकाव है। कितने लोगों को स्वरूप का ज्ञान है, लेकिन वैराग्य नहीं है तो भी काम पूरा नहीं है। ज्ञान हो, वैराग्य हो और वासना को छोड़कर स्वरूप में स्थित हो तब काम पूरा होगा। श्री पूरण साहेब ने एक ही साखी में कितना सुन्दर कहा है–

जाते सकलो परखिया, सो पारख निजरूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झांई भ्रमकूप॥

जिसने सबको परखा वह पारख निजरूप ही है। जिसने सबको परखा वह कौन है? अपना आपा। इसलिए **तहाँ होय रहु स्थीर तू।** वहीं तुम स्थिर रहो। **नहिं झांई भ्रम कूप।** परिछाईं, प्रतिबिम्ब में मत जाओ। वासना, भास, अध्यास में मत जाओ। जितना भी स्वरूप के अतिरिक्त है, सब भास है, आभास है, अध्यास है, परिछाईं है, प्रतिबिंब है, झांईं है, उसमें न जाओ। जिसने अंतिम दशा को आदि में ही देख लिया, वह परमसुखी हो जाता है। शरीर के मरण की दशा को हमेशा देखें।

कन्था अरु कौपीनहू, जाको मिलै न कोय।
वृत्ति इन्द्रहु ते अधिक, तृप्त चलित नहिं होय॥ 28॥

अखंड वैराग्यवान को चाहे गुदड़ी और लंगोटी भी समय से न मिले, परंतु उसकी वृत्ति इन्द्र से बहुत ऊंची अखंड संतोष है। वह सदैव आत्मतृप्त होता है, कभी कंपित नहीं होता।

इन्द्र का नाम तो केवल उपलक्षण मात्र है। इन्द्र बेचारा क्या है! संत ही सम्राट है। विषय-वासना का त्याग कर देने वाला ही सम्राट है। संत की वृत्ति स्थिर हो जाती है, चलित नहीं होती। शरीर का गुजर तो होगा ही।

अनइच्छा जो मिलत है, भोजन वस्त्र विहार।
सोई लेत हैं सुखित होय, राखत कछु न अधार॥ 29॥

वैराग्यवान बिना कुछ इच्छा किये जो सहज मिल जाता है–भोजन, वस्त्र तथा निवास, उसे संतोषपूर्वक ले लेते हैं। वे अपने लिए कुछ आधार

नहीं रखते।

बिना इच्छा के जो कुछ मिल जाये, भोजन ले लेते हैं, वस्त्र ले लेते हैं। 'विहार'–रहना, बसना, घूमना। विहार का मतलब घूमना और विहार का मतलब आश्रम भी होता है। बौद्धों का विहार (आश्रम) होने से भारत का एक प्रदेश बिहार कहलाने लगा। मगध, वैशाली, मिथिला और अंग देश इन सब में बौद्धों के अच्छे-अच्छे मठ थे। इसलिए वह प्रांत बिहार कहलाया।

चीन देश का बौद्ध साधु फाह्यान पांचवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने अपनी डायरी में लिखा है कि श्रावस्ती, कुशीनारा, बोधगया ये सब केवल बियांबां हैं। सब भग्नावशेष हैं। उस समय बुद्ध को हुए 1000 (हजार) वर्ष हुए थे। तभी से, आज से सोलह सौ वर्ष पूर्व वे भग्नावशेष बताते हैं। उजड़े तो उसके भी पहले से थे। पटना में अशोक का भवन उसने देखा। पटना को पाटलीपुत्र कहते थे। उससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। अशोक के भवन के विषय में लिखा है कि इसे मनुष्य ने नहीं बनाया है, कोई देवता ने बनाया है। यह मनुष्य की रचना नहीं हो सकती है। तो बिहार नाम घूमना, फिर बिहार का अर्थ मठ भी हुआ, और फिर बिहार प्रदेश हो गया। बिहार प्रदेश भारत के केन्द्र में सदा से रहा है। क्रांतिकारी चिंतक भी वहां होते रहे हैं। विवेकवान जो मिल जाये, भोजन ले लिये, वस्त्र ले लिये, निवास ले लिये। वे निश्चिंत होकर, प्रसन्न होकर प्राप्त वस्तुओं में बरताव करते हैं। वे **राखत कछु न अधार**। अपने मन में कोई आलम्बन नहीं पकड़ते।

सज्जन ते जाँचे नहीं, दुर्जन ढिग नहिं जाय।
प्रारब्ध वर्तमान जो, बरतै सो बरताय॥ 30॥

वैराग्यवान संत सज्जन से कुछ याचना नहीं करते और दुर्जन के तो पास ही नहीं जाते। प्रारब्धवशात जो कुछ मिल जाता है, उसी में वे निर्वाह कर लेते हैं।

अन्त दशा लिये आदि में, सोई करों बखान।

सुख ब्रह्मा इन्द्रादि को, काक विष्ठवत जान॥ 31।

जिन्होंने अंतिम दशा को आज ही स्वीकार लिया है कि शरीर मानो मिट्टी में मिल गया है। मैं उसी स्थिति का वर्णन करता हूं। उसकी दृष्टि में ब्रह्मा और इंद्रादि का स्वर्ग-सुख काक-विष्ठा के समान है।

ब्रह्मा-इंद्रादि का स्वर्ग-भोग काल्पनिक है। इस संसार में सबसे बड़ा सुख कामभोग को माना है, किन्तु वह क्षणिक, उत्तेजना, गंदगी तथा पछतावा के अलावा क्या है। वैराग्यवान का निर्भय, स्थिर सुख निर्विषय निश्चल शांति है।

देह अन्त मृतुक दशा, सो मैं आजहि लीन्ह।
कफन पहिर समाधि में, जग विस्मृति भइ चीन्ह॥ 32॥

देह का जो अंत होता है वह मृत्यु दशा होती है, उस भाव में मैं आज ही से लीन हूं। कफनी पहनकर समाधि में बैठ गया हूं। जग विस्मृत हो गया है, यही हमारी पहचान है। इन साधुओं को जो अचला-लंगोटी मिलती है, वह कफन और कौपीन है। ध्यान-समाधि में जगत को भूल जाना है। जगत को भूल जाने का मतलब है जगत के मोह को भूल जाना, मोह न रहना। इस शरीर-संसार के प्रति मोह है, उसे काटना चाहिए। यहां जो गृहस्थ बैठे हैं, वे यह न सोचें कि यह केवल साधुओं के लिए है, हम लोगों के लिए नहीं। सबको उसी घाट जाना है। कोई बच नहीं सकता है। कितना ही राग-रंग वाला हो, गंगा के किनारे श्मशान में सबको जाना है। असली बस्ती तो वही है। यह तो नकली बस्ती है। जहां आये, बसे और उजड़े वह तो नकली बस्ती है। असली बस्ती वह है, जहां बस करके कोई कभी न उजड़ा। अतएव श्मशान ही असली बस्ती है। उस बस्ती की तरफ जाने के लिए तैयारी करनी चाहिए। मरते समय भय, चिंता, आकर्षण, दुख न हो, ऐसी तैयारी करनी चाहिए। समय बहुत जल्दी-जल्दी भागा जा रहा है। आदमी सोचता है कि अभी तो बहुत समय है। जब मां के गर्भ से ही शिशुओं का शरीर छूटने लगता है, तब और क्या कहा जाये। क्या उम्मीद की जाय कि यह शरीर कब तक रहेगा!

मृतुक को मरबो कहा, निर्धन तस्कर भीत।

भिक्षुक को अभिमान कहा, त्यागी काको मीत॥ 33॥

अगर आदमी शरीर रहते-रहते समझ ले कि शरीर मरा है, तो उसको मरने का भय कहां होगा? जिसके पास धन ही नहीं है उसे चोर का क्या डर होगा? भिक्षु को अभिमान कहां होगा? और त्यागी मित्रता कहां करेगा? त्यागी का तो पूरा संसार मित्र है। उसके तो जीवमात्र मित्र हैं। लेकिन वह कहीं ममता नहीं करता है। कोई मित्र होता है, कोई नहीं होता है। लेकिन वैराग्यवान का सारा संसार मित्र है, इसलिए उसका कोई व्यक्तिगत मित्र नहीं है। जिसने सबका मोह छोड़ दिया, उसका सब है। और जो कहीं मोह करता है, कहीं नहीं करता है, उसका कोई अपना है और कोई पराया है। वस्तुतः संसार में कोई अपना नहीं है इसलिए सबका मोह छोड़ देने वाले के लिए सारा संसार मित्र है। उसका तो जीव मात्र मित्र है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

28 सितम्बर, 1995 ई०)

बारहवां प्रवचन

दरिद्रता को सब डरें, करें सम्पत्ति सो प्रीति।
सो दरिद्र हम लीन हैं, अब कहा रीत बे प्रीति॥ 34॥
हम दरिद्र में सुखी हैं, सम्पत्ति सो दुख मान।
भोजन भिक्षा अन्न को, औ नदियन जल पान॥ 35॥

वैराग्यवान, वनवासी अपने पास कुछ नहीं रखते हैं। वे कहते हैं कि लोग दरिद्रता से डरते हैं और संपत्ति से प्रेम करते हैं। लेकिन हम तो दरिद्रता में ही लीन हैं। अब प्रेम की रीत कहां है? कहीं मोहब्बत करने का कहां चांस है? जब कुछ भी चीज और व्यक्ति हमारे नहीं हैं तो लगाव कहां करें? इसलिए हम दरिद्रता में सुखी हैं। सम्पत्ति को दुख रूप मानते हैं। भिक्षा का अन्न खा लेते हैं, और नदियों का जल पी लेते हैं। इतना ही नहीं–

राह बाट की चींधरी, जोरि गूदरी कीन्ह।
गही तूमरी हाथ में, शयन भूमि पर कीन्ह॥ 36॥

तन ढकने के लिए राह-बाट में पड़ी चींधरी जोड़कर गुदड़ी बना ली, हाथ में तुमड़ी ले ली पानी के लिए और शयन करने के लिए जमीन तो बहुत विशाल पलंग है ही। जहां मन हुआ सो गये।

काह बन बाग आरण्य कहा, काह मन्दिर श्मशान।
अचिन्त निद्रा करत हौं, हर्ष शोक नहिं मान॥ 37॥

वन हो, बाग हो या विशाल जंगल हो, उत्तम भवन हो या श्मशान हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। प्रारब्ध चाहे जहां ले जाय। **अचिंत निद्रा करत**

हौं, हर्ष शोक नहीं मान। निश्ंचित होकर नींद में चला जाता हूं। न मन में हर्ष है, न शोक है, न मान है।

संसार के पदार्थों में रागवान होने से आदमी हर्ष और शोक में फूलता-पचकता है। राग जितना कटता है, उतने हर्ष-शोक घटते हैं। मोह यदि हो तो आदमी लंगोटी का ही मोह करके चिंता-फिक्र कर सकता है। मोह न हो तो मंदिर और संपत्ति मिट्टी ही तो हैं। इसलिए गहरी शांति के लिए मन को मोह तथा हर्ष-शोक से ऊपर उठाना चाहिए।

शिला पलंग आरण्य घर, शरद निशा को चन्द।
पंखा करत बयार सब, हम पौढ़त स्वच्छन्द॥ 38॥

वैराग्यवान कहते हैं, शिला ही पलंग है, जंगल ही घर है और शरद निशा की चांदनी ही दीपक है। सब दिशाओं की हवाएं मानो पंखा कर रही हैं। और हम स्वतंत्र विश्राम करते हैं।

फ़ानूस बन के जिसकी हिफ़ाजत हवा करे।
वो शम्मा क्या बुझे जिसे रोशन ख़ुदा करे॥

हवाएं ही फ़ानूस बन कर दीपक की हिफ़ाजत करती हैं। जबकि हवाएं दीपक को बुझा देती हैं। लेकिन कहने वाला कहता है मानो हवाएं ही फ़ानूस बन गयी हैं। फ़ानूस कांच का घेरा। वो शम्मा क्या बुझे, जिसे रोशन ख़ुदा करे। शम्मा नाम दीपक, वह दीपक कैसे बुझेगा जिसे ख़ुदा ही रोशन करता है। प्रकाशित करता है, ख़ुदा कोई व्यक्ति नहीं, कारण-कार्य की व्यवस्था ही ख़ुदा है।

कोई मोह करेगा, दुख पायेगा; निर्मोह रहेगा सुख पायेगा। राग-द्वेष करेगा दुख पायेगा, मन जलेगा। राग-द्वेष नहीं करेगा, मन शीतल रहेगा। कम खायेगा पेट हलका रहेगा; गम खायेगा, मन हलका रहेगा। चित्त में शांति रहेगी। ज्यादा खायेगा पेट खराब होगा, मन खराब होगा। सब तरह से परेशानी होगी। गम नहीं खायेगा तो चित्त उलझेगा, पीड़ा होगी। कारण-कार्य की अपनी व्यवस्था है। यही ख़ुदा है। जो उसके तहत काम करता है, वह सुखी रहता है।

धुनी ध्यान वृत्ति भारजा, केलि करत परबीन।
लज्जा मान बिसारि के, घर घर भिक्षा कीन॥ 39॥

ध्यान ही धूनी है। ठंडी निवारण करने के लिए साधु लोग धूनी लगाते हैं। गांजा पीने वाले वैसे ही धूनी लगाते हैं। आग जलाये रहते हैं और उसमें से आग निकाल-निकाल कर चिलम में डालते हैं, और गांजा फूंकते हैं। साधू लोग धूनी रमाते हैं, आग जलाते हैं। वैराग्यवान कहता है कि ध्यान ही धूनी है। स्वरूपस्थिति की वृत्ति ही भार्या है, पत्नी है। अकेले रहना जीवन में आनंददायी नहीं है। वैदिक साहित्य में भी लिखा है– "एकाकी न रमते।" अकेले में आनंद नहीं आया। इसलिए उन्होंने कहा– "एकोहम् बहुस्याम् प्रजायेय।" एक से मैं बहुत प्रजा के रूप में हो जाऊं, ऐसा सोचा। अकेले में आनंद नहीं आता है, इसलिए पत्नी चाहिए। कोई लड़की है तो उसको पति चाहिए। किन्तु वैराग्यवान कहते हैं स्वरूपस्थ वृत्ति ही भार्या है। जो स्वरूप में रमने वाली वृत्ति है, वही हमारी पत्नी है। चारों तरफ से मन शांत हो गया। यह शांति वृत्ति ही हमारी पत्नी है। वैराग्यवान उसी में केलि करता है। स्वरूपस्थ वृत्ति में चित्त को समेट लेना ही सबसे बड़ा ऐश्वर्य पाना है। **लज्जा मान बिसारि के, घर घर भिक्षा कीन।** अब भोजन की जरूरत है। कितना ही ज्ञान-वैराग्य करो बिना रोटी के नहीं चलेगा। भूख लग गयी, तो लज्जा-मान छोड़कर घर-घर में जाकर भीख मांग लेता हूं और खा लेता हूं।

विषम वचन सहों जगत के, चहौं न धन त्रिय भोग।
करत ठठोली लोग खल, मोंको हर्ष न शोग॥ 40॥

संसार के लोगों के विषम वचन सुनकर सह लेता हूं। कोई कठोर वचन कहता है तो कोई आदर करता है। निर्विकार होकर सबको सह लेता हूं। **चहौं न धन त्रिय भोग।** न धन चाहता हूं, न स्त्री चाहता हूं और न भोग चाहता हूं। **करत ठठोली लोग खल, मोको हर्ष न शोग।** दुष्ट लोग मेरी हंसी उड़ाते हैं, लेकिन मुझे हर्ष-शोक नहीं है। शरीर के नाम होते हैं। शरीर मैं नहीं हूं तो मेरा नाम कहां है? नाम और रूप दोनों मिथ्या हैं। द्रष्टा-दृश्य विवेक परमार्थ का राजपथ है। इस पर चिंतन-मनन वैदिक-काल से होता रहा है। वेदों में बात आयी है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॥

(ऋग्वेद 1/164/20)

अर्थात सुंदर पंख वाले दो पक्षी हैं, जो साथ-साथ रहते हैं और मित्र हैं। ये एक समान वृक्ष पर चिपके बैठे हैं। उनमें से एक वृक्ष के फल के स्वाद को चखता है, परंतु दूसरा नहीं चखता। वह केवल देखता रहता है।

इसका स्पष्टीकरण है कि संसार में दो श्रेणी के जीव हैं, एक रागी और दूसरा विरागी। किंतु वे मूलतः एक समान, सजाति तथा एक ही गुण-धर्म के हैं और एक ही प्रकार के शरीर में रहते हैं। एक शरीर की इंद्रियों के भोगों में रमता है, इसलिए दुखी रहता है और दूसरा विरागी होने से इंद्रिय-भोग में नहीं पड़ता है। वह केवल अभिचाकशीति-द्रष्टा रहता है।

साक्षी और साक्ष्य दो होते हैं। द्रष्टा और दृश्य दो तत्त्व होते हैं। द्रष्टा चेतन है और दृश्य जड़ है। जड़ का साक्षी बनकर जड़-साक्ष्य से अपने आपको निकाल लेना। मूंज में से सींक निकाल लेने के समान जो साधक अपने को शरीर, मन, वाणी से निकाल लेता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, और स्वरूपाकार वृत्ति में निरंतरता हो जाती है, उसे क्या शोक, क्या मोह?

ये मन के मानै सबै, दुष्ट मित्र जग होय।
मनहीं जहाँ बिलाइया, अरि मित्र नहिं कोय॥ 41॥

मन के मानने से दुष्ट और मित्र होते हैं। मन ही मानता है कि यह बैरी है और यह मित्र है। यह केवल मन की मान्यता है। जो आज प्रेम करने वाले हैं, उनमें से ऐसे भी होते हैं जो द्वेष करने वाले हो जाते हैं। जो एकदम छाया की तरह लगने वाले होते हैं, वे आलोचना और बुराई में लगने वाले भी हो जाते हैं, और जो बुराई करते हैं, वे निकट आ जाते हैं, और मित्र हो जाते हैं। यह संसार का स्वभाव है। जब मन की मान्यता का जाल तोड़ दिया, तब कौन मित्र है और कौन शत्रु है। तब प्राणिमात्र मित्र हो गये।

कोइ बोलै कोइ ठोलै, कोइ डारै सिर धूर।
कोइ स्तुति निन्दा करै, कोइ ज्ञानी कोइ कूर॥ 42॥

हमें कोई कटु बोलता है, कोई हंसी मजाक उड़ाता है, कोई हमारे सिर पर धूल डालता है। कोई हमारी स्तुति करता है, तो कोई निंदा करता है। कोई हमें कहता है कि बड़ा ज्ञानी है, और कोई कहता है महा क्रूर है। इस प्रकार लोग अपने-अपने मन के अनुसार व्यवहार करते हैं।

मोको काज न काहु से, काह रंक नृप नाथ।
काह इन्द्र अज हरि हर, मैं निज ज्ञान सनाथ॥ 43॥

मुझे किसी से प्रयोजन नहीं, जिसने मेरी प्रशंसा कर दी और जिसने मेरी निंदा कर दी, दोनों को धन्यवाद! दोनों से अपना संबंध नहीं है। चाहे राजा हो, चाहे रंक हो, चाहे इन्द्र ही क्यों न हो? और इतना ही नहीं, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शंकर हो, वैराग्यवान के लिए ये सब क्या हैं? जिसकी सारी कामनाएं बुझ गयीं, वह सबसे निष्फिक्र, निस्पृह हो जाता है, और अपने ज्ञान में कृतार्थ हो जाता है।

मैं नहिं जानो जगत से, मोको सुख दुख होय।
काल कर्म ये जड़ सबै, जड़ देवादिक होय॥ 44॥

मैं यह नहीं मानता हूं कि जगत से मुझे सुख-दुख होते हैं। काल जड़ है, कर्म जड़ है, देवादि जड़ हैं, तो ये जड़ मुझे सुख-दुख कैसे दे सकते हैं। दुख तो मेरे अज्ञान से होता है, मेरे मोह से होता है। मेरे मन का मोह मिट गया, अज्ञान मिट गया, तब दुख होने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

मैं चैतन्य सब जानता, ई अचेत जड़ रूप।
ई क्या सुख दुख देत हैं, कहते अज्ञ स्वरूप॥ 45॥

मैं चेतन हूं, मैं सब कुछ को जानता हूं और जिनको जानता हूं वह सब जड़ है तो वे हमें सुख-दुख क्या देंगे? जो अज्ञानी हैं वे कहते हैं कि दूसरे से सुख-दुख मिलते हैं।

सुख-दुख की मान्यता मेरे अपने अविवेक का फल है। मेरा विवेक इतना जागृत होना चाहिए कि दुख नाम की कोई चीज ही न हो। आदमी अपनी उद्देश्यपूर्ति के रास्ते में परतंत्र नहीं है, स्वतंत्र है। मनुष्य का वह उद्देश्य नहीं हो सकता है जो दूसरे पर अवलंबित हो। मैं अपने अज्ञान से सुखी-दुखी होता रहता हूं। उस अज्ञान की निवृत्ति होने पर न सुख है, न दुख है। एकरस सुख है। **सुख दुख से एक परे परमपद, सो पद है सुखदाई।** इसलिए सुख और दुख देने वाला कोई अन्य नहीं है। हमारे मन का मोह ही दुख देता है।

मन मानै कर्म काल ग्रह, मन मानै सब देव।
मन मानै जग चक्र सब, चलै न जानै भेव॥ 46॥

इस मन की मान्यता से कर्मों का जाल फैलता है। मन ही काल की कल्पना कर लेता है कि काल ने हमें दुख दिया और ग्रह आकाश में हैं, वे हमें दुख दे दिये। सारे देवता मन की मान्यता मात्र हैं। सारे देवी-देवता काल्पनिक होते हैं। तुम देवताओं के देवता हो। देवता तो सब जड़ हैं, कोरी कल्पना हैं। **मन मानै जग चक्र सब।** जगत के सारे चक्कर मन की मान्यता के फल हैं। मन मोह छोड़ दे, तो चक्कर कुछ नहीं है। **चलै न जानै भेव।** आदमी रहनी में चलने का भेद तो जानता नहीं है। कहावत है-**नाचना न जाने आँगन टेढ़ा।** एक नचनिया था। वह ठीक से नाच नहीं पा रहा था। तो उसने कहा-आंगन जरा टेढ़ा है, इसलिए नाचते नहीं बन रहा है। अरे! आंगन जितना है, उसी में बढ़िया नाच सकते हो। नाचने का ढंग तो जानो। जो उपलब्ध है उसी में तुम अपना काम कर सकते हो।

रज सत तम गुण मन सकल, मन के सकल चरित्र।
स्वामी सेवक मन सकल, मन मानै अरि मित्र॥ 47॥

रज, सत तथा तम ये तीन गुण मन के होते हैं। मन चंचल होता है, वही रज है, और मन शांत होता है वही सत है। मन जब जड़-मूढ़ होता है, वही तम है। तो यह सब मन ही की तो लीला है। सारा चरित्र मन का है। मन ही स्वामी और सेवक की कल्पना करता है। मन ही दुश्मन और दोस्त मानता है।

मन मानै वर्ण आश्रम, मन मानै सुत दास।
मन मानै त्रिय कुटुम जग, मन मानै दुर पास॥ 48॥

मन ने ही वर्ण और आश्रम की कल्पना की है। मन ही पुत्र और दास मानता है। यह दूर है कि पास है, यह हमारे निकट है कि हमसे दूर है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह सब मन की कल्पना है। मन ही मान लेता है कि यह मेरी पत्नी है, मेरा पति है, मेरा कुटुम्ब है, यह सब मन की कल्पना है।

मन मानै जप योग है, मन मानै तप आश।
जो मन को मानै नहीं, सुखी सो साधु निराश॥ 49॥

जप और योग मन की मान्यता है। तप और तप के फल में स्वर्ग की आशा मन की मान्यता है। जो मन ही को नहीं मानता है, वह साधु सबसे निराश और सुखी होता है।

सारा प्रपंच मन के अंदर है। मन की मान्यता छूट जाने पर सारा रोग खत्म हो जाता है। जीव का संबंध जगत से मन द्वारा होता है। जैसे पुल नदी के दोनों तटों को जोड़ने वाला होता है। पुल को तोड़ दिया जाय, तो दोनों तटों से आने-जाने का संबंध टूट जाता है। इसी प्रकार जीव जगत में इसलिए उलझता है कि मन का मोह है। अगर मन ही को जगत से हटा लिया तो उलझने की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

मनहिं रोग अरु भोग है, मनहिं पाप अरु पून्य।
मनहिं क्रिया अरु कर्म मन, मन चेतन अरु शून्य॥ 50॥

मन ही भोगों में उलझता है, इसलिए रोग बनता है। मन ही पाप और पुण्य की कल्पना करता है। पाप कैसे होता है? मन द्वारा! पुण्य कैसे होता है? मन द्वारा! जब वह कामी हुआ, क्रोधी हुआ, भोगी हुआ, तब पाप कर डालता है। जब दयालु हुआ, संयमी हुआ, तब पुण्य करता है, तो मन ही से तो सब कुछ होता है। दया भी मन से और पाप की प्रवृत्ति भी मन से होती है। **मनहिं क्रिया अरु कर्म मन**। मन से सारी क्रियाएं होती हैं। मन से ही सारे कर्म होते हैं। **मन चेतन अरु शून्य**। मन ही जब सावधान है,

तब चेतन है, और मन ही जड़मूढ़ हो गया तब शून्य है। आदमी में जब जागृति आ जाती है; तब वह चैतन्य हो जाता है। जागृति नहीं आती है तब शून्य। शून्य का मतलब जड़ता है, मूढ़ता है। आदमी वही होता है समय से जड़मूढ़ हो जाता है और समय से चैतन्य हो जाता है।

एक विद्यार्थी परीक्षा में फेल हो गया था। वह बिस्तर पर पड़ा था और मन ही मन घुट रहा था कि अब नहीं पढूंगा। वह जीवन से एकदम निराश हो गया। उसने देखा कि एक चींटी, एक चावल के कण को लेकर दीवार पर चढ़ती है। बिल कुछ ऊपर है। वह चावल सहित गिर पड़ती है। फिर चढ़ती है, फिर गिरती है। फिर चढ़ती है, फिर गिरती है। पचासों बार ऐसा वह करती है, थकती नहीं है। अंत में वह चावल लेकर बिल में पहुंच जाती है। इसे देखकर छात्र के मन में साहस आया। ऐसा तुच्छ जीव चींटी और पचासों बार श्रम करते-करते चावल लेकर अपने बिल में पहुंच जाती है। मैं मनुष्य हूं, एक बार फेल हुआ तो इतना क्यों घबरा गया? अब वह चैतन्य हो गया। पहले शून्य हो गया था, जड़ हो गया था, अब वह चैतन्य हो गया। तो मन ही जब मूढ़ता प्राप्त कर लेता है, तब शून्य हो जाता है। शून्य होने का मतलब है विवेकहीन हो जाना। और जब आशावान हो जाता है कि निश्चित ही मैं सफल होऊंगा, तब चैतन्य हो जाता है।

निराशा और आशा इसके दो अर्थ होते हैं। जो निराशाग्रस्त है, वह कभी सफल नहीं हो सकता है। मैं कुछ नहीं कर सकता। अपने जीवन में मन को कैसे जीत सकूंगा। व्यापार-बट्टा नहीं रहा, अब मैं कैसे कमा सकूंगा? मेरा भाग्य ही ऐसा है? मुझे तो चारों तरफ से डूब जाना है। इस प्रकार की निराशा इंसान को डुबा देती है।

दूसरे लोग उन्नति करते हैं, तो मैं भी उन्नति कर सकता हूं। दूसरे साधु-संन्यासी मन को जीत लेते हैं, तो मैं भी मन को जीत सकता हूं। मैं भी कृतार्थ हो सकता हूं। मैं निश्चित ही पूर्ण रूप से कृतार्थ होऊंगा। इस प्रकार आशावान व्यक्ति निश्चित है, अपनी दिशा में सफल होता है। दूसरी बात है, दुनिया के भोगों की आशा करना, कामना करना दुख है; और आशा-कामना न करना सुख है। दुनिया से निराश होना सुख है और दुनिया की आशा में पड़े रहना दुख है। शब्द में नहीं पड़ना चाहिए, किन्तु शब्द का अर्थ-भेद समझना चाहिए। सब कुछ क्षणभंगुर है। कुछ भी

हमेशा रहने वाला नहीं है। यह विवेकज्ञान है। लेकिन यह समझ ले कि सब कुछ क्षणभंगुर है। हाय! अब मेरा क्या होगा? मैं दुखित हूं, पिस जाऊंगा, यह निराशा दुखदायी है। सब कुछ क्षणभंगुर है, सब कुछ नाशवान है, इसलिए मुझे इनकी कोई कामना नहीं करनी है। मैं अपने आप में पूर्ण हूं, यह निराशा सुखद है। संसार की क्षणभंगुरता को देखना और फिर आशावान होना कि मैं इन सबको त्याग कर अपने आप में ही पूर्ण कृतार्थ हूं, यह कल्याणकर है।

सो मन मैं मानों नहीं, कहा भोग कहा त्याग।
जो है मन को मानबो, सो प्रपंच वैराग॥ 51॥

ऐसे बंधनदायी मन को मैं नहीं मानता हूं। अब जीवन में कहां भोग है और कहां त्याग है? जब भोग ही नहीं है तब त्याग का प्रश्न ही समाप्त है। जो मन के मान्यतापूर्वक एवं अहंता-ममतापूर्वक वैराग्य है, यह प्रपंचपूर्ण वैराग्य है।

जिस मन द्वारा प्रपंच चलता है, उस मन को ही मैं नहीं मानता हूं। उठते-बैठते-चलते-फिरते मन को न माने।

बोध वही जो कि माने नहीं मन का।
ज्ञान वही जो कि गाँसे फिरे मन का॥ भवयान॥

मन की बात न माने, हरदम मन को काटता रहे, वह कल्याणार्थी है। उठते-बैठते, चलते-फिरते मन को देखे कि मन क्या सोच रहा है। उसे संयत करे।

यह खाद्य है, यह अखाद्य है, यह पेय है, यह अपेय है, यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है; यह तो मानना पड़ेगा। भोगों को नहीं मानना है, राग को नहीं मानना है। जो मन को मानना है वही प्रपंच-वैराग्य है। सही वैराग्य क्या है? प्रपंच को न मानना। जीवन के बंधन में न फंसना।

मतियन में भय मतन को, यतियन में भय नार।
त्यागिन में भय लोभ है, युद्ध समय भय मार॥ 52॥

मत-मतान्तर में मत का भय है। एक मतवादी, दूसरे मत को काटता है। वैरागियों को स्त्रियों का डर है। साधक स्त्रियों से सावधान रहें; और स्त्री साधिका पुरुषों से सावधान रहें। त्यागियों को लोभ का भय है। लोभ बढ़ा तो त्याग गया। जो व्यक्तिगत जीवन के लिए अधिक पैसा बटोरता है, वह साधु वैराग्यवान नहीं हो सकता है। गृहस्थ भी अकेले के लिए बटोरता है तो गलत करता है। सारा धन पूरे परिवार का है। जहां लोभ बढ़ा, वहां वैराग्य समाप्त हुआ। **युद्ध समय भय मार** युद्ध के समय में मार का भय लगा रहता है, कि शत्रु मार न दे।

जाति पाँति को गृहिन में, भेषन में भय भेष।
जगत सकल दुख रूप है, निर्णय करिके देख॥ 53॥

गृहस्थी में जाति-पांति का डर है। वह इस जाति का है वह उस जाति का है। तथाकथित हर जाति में ऊंच-नीच की कल्पना है। ब्राह्मण में तो कोई ठिकाना नहीं है, इतने ऊंच-नीच भेद हैं। तीन, तेरह, सवालक्खी, सरवरिया, धाकर, पंक्तिपावन, पंक्तिदूषित और उसमें भी अद्‌भुत-अद्‌भुत भेद! तो जाति-पांति का भय गृहस्थी में है। भेषों में भेष का डर है। कहां से आते हो? तुम्हारी कौन शाखा है? तुम्हारा आचार्य कौन है, गद्दी कहां है, ऐसा पूछने लग जाते हैं। उसे शांति लेने दीजिए, उसे पानी पूछो, भोजन पूछो, आसन दो, मनुष्य है, साधु है, आया है। कौन शाखा चाहते हो? सारी शाखाएं गुरु द्वारा ही निर्धारित होती हैं। किसी गुरु की शरण में है, किसी गुरु ने रास्ता दिखाया है। उसका सत्कार करो, सहयोग करो। भेषधारियों में भेष का डर लगा है। तुम्हारी शाखा गद्दी है, हमारी मूल गद्दी है। हम बड़े तुम छोटे। **जगत सकल दुख रूप है, निर्णय करिके देख।** साहेब कहते हैं निर्णय करके देख लो सारा जगत दुख रूप है।

तृष्णा की विशेषता, कहाँ लों करों बखान।
देह मरै इन्द्रिय थकें, तृष्णा न मरै निदान॥ 54॥

मैं तृष्णा की विशेषता कहां तक बताऊं। देह बुढ़ा जाती है, इन्द्रियां थक जाती हैं, मृत्यु का समय आ जाता है; लेकिन तृष्णा वैसी ही ताजा बनी रहती है।

तृष्णा है कि डाँकिनी, की जीवन को काल।

और और निशदिन चहै, जीवन करत बेहाल॥ 55॥

यह तृष्णा है कि राक्षसी है कि मनुष्यों के लिए काल है। रात-दिन अधिकाधिक चाहती है, और जीवों को परेशान करती है।

तृष्णा अग्नि प्रलय की, तृप्ति न कबहूँ होय।

सुर नर मुनि औ रंक सब, भस्म करत हैं सोय॥ 56॥

तृष्णा प्रलय की आग है, यह कभी तृप्त नहीं होती। देवता, मनुष्य, मुनि, राजा, रंक सबको यह भस्म करती है।

निर्धनिक कछु धन चहै, धनिक चहै विशेष।

विशेषहु विशेष चहै, होवन चहै नरेश॥ 57॥

नरेश चहै इन्द्र पद, इन्द्र चहै रणजीत।

असुर चहै सुरपति बनन, यह तृष्णा की रीति॥ 58॥

जो निर्धन है, वह धन चाहता है, जो धनिक है, वह ज्यादा धन चाहता है। जो विशेष धनी है, वह और विशेष चाहता है, यहां तक कि राजा होना चाहता है। राजा इन्द्र होना चाहता है। इन्द्र रणजीत होना चाहता है, फिर दूसरा इन्द्र होने के लिए सामने न आ जाये। असुर सुरपति होना चाहते हैं। यह तृष्णा की रीत है। विश्राम न पाना तृष्णा है। यह तृष्णा ज्ञान-वैराग्य से ही शीतल होती है और कोई चारा नहीं है। खाने में, पहनने में, बात-बरताव करने में, रुपये-पैसे में, लेन-देन में, संयोग-संबंध में, कहीं तृष्णा वाला न हो। तृष्णा त्यागने वाला ही सुखी होता है।

आशा धन त्रिय पुत्र की, जीवन आशा होय।

आशा स्वर्ग सिद्धि मुक्ति की, आशा बंधन लोय॥ 59॥

धन की आशा, पत्नी की आशा, पुत्र की आशा, जीवन की आशा, स्वर्ग की आशा, सिद्धि की आशा और मुक्ति की भी आशा, सब बंधन है। मुक्ति की आशा पहले तो ठीक है। जो बंधन में है, उसे मुक्ति की आशा

ठीक है। किंतु जो मुक्त हो गया उसे मुक्ति की आशा नहीं रहती। यदि मुक्ति की आशा है तो इसका अर्थ है कि अभी बंधन में है।

विषय थकै इन्द्रिय मरें, आशा मरै न कोय।
देह मरै तेउ अमर है, देह धरावत दोय॥ 60॥

विषयों को ग्रहण करने के लिए तत्पर इन्द्रियां थक जाती हैं और मन थक जाता है। लेकिन मनुष्य के अंदर विषयों की आशा नहीं मरती। देह मरने पर भी आशा अमर रहती है, और यही पुनः देह धराती है। इसलिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि आशा के बीज को दग्ध करें।

आशा सोई यम फाँस है, सब जीवन दुखखान।
जीव भरमावै ज्ञान हरै, ताते त्यागहु जान॥ 61॥

आशा ही यमराज की फांसी है, और सभी जीवों के लिए दुखों की खान है। यह जीव को भटकाती है और ज्ञान को क्षीण करती है। इसलिए समझ-बूझ कर आशा का त्याग करना चाहिए।

आशा हमारी दरिद्रता है। हमारे अंदर जो भोगों की आशा है, वही हमारी दरिद्रता है। साधक जितना विवेकवान होता है उसके अंदर की आशाएं क्षीण होती जाती हैं। आशा की कोई जरूरत नहीं है। भूख लगने पर कुछ भोजन मिल जाता है, तन ढकने के लिए कुछ कपड़े मिल जाते हैं; और रहने के लिए जगह मिल जाती है। आदमी को चाहिए कि अपनी श्रेणी के अनुसार परिश्रम करे। आशा-वासना की कोई आवश्यकता नहीं है। निरंतर विचारों से और विवेक से जब मानसिक विकार क्षीण होते हैं, तब अंतःकरण शुद्ध होता है। तब आदमी की वृत्ति निर्मल होती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुण्डकोपनिषद् 2/2/8॥

जब हृदय की गांठें (जड़ासक्ति) कट जाती हैं, और सारे संशयों का नाश हो जाता है; तब उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं। कर्म क्षीण हो जाने का मतलब है, निस्पृह हो जाना, आकर्षण रहित हो जाना, खिंचाव खत्म हो

जाना। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' उसकी दृष्टि पर–अवर हो जाती है। पर–अवर का अर्थ है, आर–पार–दिव्य दृष्टि हो जाती है। उसके चित्त में कोई भटकाव नहीं। इस संसार से उसे कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती है। यह कूड़ादान संसार हमारे साथ नहीं रहने वाला है। क्षण–क्षण मिटनेवाला है और छूटने वाला है। सदैव के लिए गायब हो जाने वाला है। इसमें क्या आकर्षित हों? जिसकी ऐसी दृष्टि निरंतर बनी रहती है, उसको भटकने का कोई चांस नहीं है।

भोग विषय औ कुटुम सब, अन्त तोहिं तजि जायँ।
ताते समुझि विचारि के, तुमहि तजो किन भाय॥ 62॥

सारे विषय–भोग और कुटुंबी तुम्हें अन्त में छोड़ देंगे। इसलिए हे भाई! इस तथ्य को समझ–बूझकर तुम ही पहले इनका मोह क्यों नहीं त्याग देते हो?

अंत में तुम्हारे साथ तुम्हारा अपना माना हुआ शरीर भी नहीं रहेगा। इसलिए इस बात को विचारो और पहले से तुम इसका मोह त्याग करो। रूप गोस्वामी ने कितना बढ़िया कहा है–यदुपति महाराज श्रीकृष्ण के मथुरा का ऐश्वर्य कहां गया? रघुपति महाराज श्रीराम के उत्तर कौशल का ऐश्वर्य कहां गया? इस पर विचार करो और अपने चित्त में निर्णय लो कि तुम्हें क्या करना है। तुम जिसके लिए अहंकार करते हो, वह कुछ रहने वाला नहीं है।

अहो मोह महिमा प्रबल, सबको करत बेहाल।
ज्ञान हरै सम्पति हरै, प्राण हरै तत्काल॥ 63॥

मोह की महिमा आश्चर्यजनक है। मोह सबको बेहाल करता है। यह ज्ञान को हर लेता है, संपत्ति को हर लेता है और शीघ्र ही प्राण को भी हर लेता है।

मोहवश आदमी स्वजनों को परजन बना लेता है। कल्याण का रास्ता छोड़ देता है। अकल्याण के पथ में भटकने लगता है। गोस्वामी जी ने कहा है–

हित से करे दुराव जो, अनहित से अनुराग।
तुलसी तिनके भाल से, चले भलाई भाग॥

जब हित से दुराव-छिपाव होने लगता है, और अनहित से अनुराग होने लगता है, तब उसके भाल से भलाई भाग जाती है। जहां से कल्याण हो वहां से परदा और जहां से अकल्याण हो वहां से रुचि, यह अपने विनाश का साधन है। ज्ञान, वैराग्य, विवेक, विचार समझकर भी पतन होने का कारण मोह है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
29 सितम्बर, 1995 ई०)

तेरहवां प्रवचन

जिनकी आशा लागि है, तिनते दुखी न और।
आशा त्यागि निराश भये, सोई सुख की ठौर॥ 64॥

जिनके मन में सांसारिक आशाएं विद्यमान हैं, उनके समान कोई दुखी नहीं है। जो संपूर्ण सांसारिक आशाओं को त्यागकर पूर्ण निष्काम हो गया, वह महा सुख-सागर हो गया। अपने अंदर का अज्ञान सांसारिक विषयों के लिए राग पैदा करता है। जहां अपना माना शरीर भी अपना नहीं है, वहां किस चीज की आशा की जाय। साधक को चाहिए कि सबके साथ हित का बरताव करे। जो प्रेम से बरताव करे उसे धन्यवाद दे। जो प्रेम से बरताव न करे उसको भी धन्यवाद दे। सबके लिए कल्याण की कामना रखे। किसी से कुछ न चाहे। इस प्रकार निष्काम रहना चाहिए। साधक के चित्त में न राग रहता है न द्वेष रहता है। आशा को त्याग कर जो निराश हो जाता है, वह सुख के स्थान में पहुंच जाता है।

आदि मध्य अरु अन्त में, आशा दुख की राश।
स्वर्ग नर्क भुगतावै, आशा अपर्बल फाँस॥ 65॥

शुरू में, मध्य में और अन्त में आशा दुख की राशि है। जब सांसारिक आशाएं चित्त में उदय होती हैं, तब हम बेचैन होते हैं, गुलाम होते हैं और दीन हो जाते हैं। आशा वाली चीजों की प्राप्ति के समय हम मोहवश उसमें आबद्ध हो जाते हैं। उनके छूटने पर हम विकल हो जाते हैं। स्वर्ग-नरक में भटकाने वाली यह आशा ही बंधन है। यह प्रबल फांसी है। साधक को चाहिए कि आशा की फांसी काट दे। कुछ भी न चाहे, निष्काम हो जाय।

ताते आशा त्यागिये, देह गेह की जान।
नास्ति सुख के कारणे, क्यों होवै बंधमान॥ 66॥

अतएव देह–गेहादि समस्त सांसारिक भोगों की आशा दुखदायी समझकर छोड़ दो। नाशवान क्षणिक सुख के प्रलोभन में पड़कर क्यों बंधन में पड़े? जो सुख अंत में नहीं रहता वह नास्ति है। कबीर साहेब ने ज्ञान–चौंतीसा में 'ञ' अक्षर के माध्यम से कहा है–

ञञा निग्रह सनेहू, करु निरुवार सन्देहू।
नहिं देखे नहिं भाजिया, परम सयानप येहू॥
जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ, जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ।
जहां नहीं तहाँ सब कुछ जानी, जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥

(बीजक, ज्ञान चौंतीसा)

सद्गुरु कबीर ने यहां संकेत में कहा है **ञञा निग्रह सनेहू।** 'ञ' अक्षर कहता है कि मोह का निग्रह करो, त्याग करो। **करु निरुवार सन्देहू।** तुम्हारे चित्त में जो संदेह है, उसका निरवार करो। **नहिं देखे नहि भाजिया।** देख रहे हो जो तुम्हारे साथ चलने वाला नहीं है, उसके पीछे न भागो। **परम सयानप येहू।** परम सयानी, परम बुद्धिमानी यही है कि जो रहने वाली चीजें नहीं हैं उनके पीछे न दौड़े। **जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ।** जहां देख रहा है, तेरा नहीं है, वहीं भागा जा रहा है। **जहाँ नहीं तहाँ मन लाऊ।** जहां तेरा कुछ नहीं है वहीं तू अपना तन–मन लगा रहा है। **जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी।** जहां तेरा कुछ नहीं है वहां सर्वस्व समझ लिया है। अंत में साहेब विधेयात्मक बात कहते हैं–**जहाँ है तहाँ ले पहिचानी।** जहां है वहां पहचान। वह तू खुद है। सबकी कामना छोड़। तू अपने आप से कभी नहीं बिछुड़ सकता। इसलिए अपने आपको समझ और तू अपने चैतन्य तत्त्व में स्थिर हो।

केवल मुक्ति आशा रहै, तेऊ है बंधमान।
सुखिया सदा निराश पद, सुनु वैराग्य निधान॥ 67॥

यदि अभी केवल मुक्ति की आशा है, तो भी मन में बंधन है। हे वैराग्य निधान! सुनो, पूर्ण निष्काम दशा ही मुक्ति का साक्षात स्वरूप है।

केवल मुक्ति की आशा रह गयी है, तब भी बंधन है। पीछे कहा गया है कि पहले मुक्ति की आशा की जरूरत है। कोई भी कथन सापेक्ष होता

है। मुक्ति की आशा करो, भोगों की आशा छोड़ो। मुक्ति की आशा करने वाला ही मुमुक्षु है। मुक्ति की आशा है, मतलब अभी वह मुक्त हुआ नहीं है। तो वह बंधमान है ही। जब मुक्त हो जायेगा, तब मुक्ति की क्या आशा रहेगी? अमुक वस्तु प्राप्त करने की आशा होती है, और जब मिल जाती है, तब उसके विषय में आशा का क्या काम? कुछ भी आशा नहीं। मुक्ति प्राप्त पुरुष को मुक्ति की आशा नहीं रहती है। लेकिन साधक को तो मुक्ति की आशा करनी चाहिए। अंतिम बात साहेब कहते हैं, यदि मुक्ति की आशा अभी है तो मुक्त नहीं हुए हो, बंधन में हो। **सुखिया सदा निराशपद, सुनु वैराग्य निधान।** वैराग्य में निपुण साधक! समझ, निराश पद ही सुखप्रद है। सारी कामनाओं का त्याग ही महा सुख है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में निष्काम पद की सर्वोच्चता का बड़ा सुंदर वर्णन है। उसका संक्षिप्त स्वरूप ऐसा है—मानो एक युवक है। वह सज्जन है। वह खूब पढ़ा-लिखा है। आशावान और उत्साहित है। वह शरीर से बलवान है। सारी पृथ्वी का ऐश्वर्य उसी के लिए है। तो यह एक मानुष आनंद है। ऐसा सौ मानुष आनंद एक गंधर्व आनंद है। ऐसा सौ गंधर्व आनंद एक देव आनंद है। ऐसा सौ देव आनंद एक इंद्र आनंद है। ऐसा सौ इंद्र आनंद एक बृहस्पति आनंद है। ऐसा सौ बृहस्पति आनंद एक प्रजापति आनंद है। ऐसा सौ प्रजापति आनंद एक ब्रह्मा का आनंद है। परंतु जो आत्मज्ञानी है और जगत की कामनाओं से शून्य है उसके आनंद के सामने सब फीका है। अतएव निष्काम आत्मलीनता ही परम सुख है।

आशा ते दुख और नहिं, आशा दुख को रूप।
जाकी आशा सब छूटिया, सो सुखिया सुख रूप॥ 68॥

आशा के समान और कोई दुख नहीं है। आशा ही दुख का रूप है। जिसकी सारी आशाएं निवृत्त हो गयीं, वह सुखी हो गया। वह सुखस्वरूप है।

क्रोध सबन को काल है, क्रोधहि है जंजाल।
शिव दुर्वासा क्रोधवश, बहुते भये बेहाल॥ 69॥

क्रोध काल है और क्रोध ही जीव का जंजाल है। शिव और दुर्वासा जैसे तपस्वी क्रोध के वशीभूत होकर बहुत दुखी हुए। इसलिए क्रोध त्याज्य है।

कपिल मुनि के क्रोध ने, मारे सगर के पूत।
सनकादिक ने क्रोध करि, राक्षस किये हरि दूत॥ 70॥

कपिल मुनि ने क्रोध किया और सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया। सनकादिकों ने क्रोध करके हरिदूतों को राक्षस बना दिया। यह अवतारवाद का प्रपंच फैलाने के लिए सब कहा गया है। सनक, सनन्दन, सनातन, सनतकुमार विष्णु के दरबार में जाना चाहे, तब दरबारियों ने कहा—आप रुकिये! आज्ञा ले लें! बस, इतने में, उन्होंने क्रोध में शाप दिया कि तुम राक्षस हो जाओ। दूतों ने क्या बुरा कहा था। आज्ञा लेना ही चाहिए और उनको धीरज रखना चाहिए। लेकिन सनकादिक जैसे विरक्तों को जिस प्रकार से चित्रित किया गया वह गर्हित है। उन्होंने शाप दिया जिससे हरि दूत राक्षस हो गये। वे रावण और कुंभकर्ण हो गये। यहां अवतारवाद का प्रपंच फैलाने के लिए सनकादिकों को क्रोधी बताया गया है। पुराणों के अनुसार साहेब कहते हैं कि सनकादिकों ने क्रोध करके हरिदूतों को राक्षस बना दिया।

तमोगुण को वैराग्य जो, औ तामस युत ज्ञान।
कृष्ण कहत अज्ञान यह, करत जीव की हान॥ 71॥

जो तमोगुण के सहित वैराग्य है, और तामस युत ज्ञान है, उसके लिए श्री कृष्ण महाराज ने गीता में कहा है कि वह अज्ञान है और वह जीव के कल्याण में बाधक है।

ताते क्रोध न कीजिये, है अज्ञान अनूप।
समुझि बिचारो जगत में, तू सब तोर स्वरूप॥ 72॥

इसलिए कभी भी क्रोध के आधीन न होओ। यह विलक्षण अज्ञान है। समझो और विचारो, इस संसार में सब तुम्हारे हैं, और तुम सबके हो।

यहां कौन पराया है, किस पर क्रोध करें?

निज कर लागे निजहि तन, अंगुरि गई निज आँखि।
दशन चबाई जीभ निज, काको क्रोध करि भाखि॥ 73॥
तैसे सबहिं विचारिये, क्रोध न करिये भाय।
सब तेरे तू सबन का, काको जानि रिसाय॥ 74॥

अपना ही हाथ अपने शरीर से लग जाता है। अपनी अंगुली अपनी ही आंखों में चली जाती है। अपने ही दांत अपनी जीभ को काट देते हैं। तब किस पर क्रोध करके गाली दी जाय। अपना मन मार कर रहा जाता है। इस पर हे भाई! विचारो, सब तुम्हारे हैं, तुम सबके हो। किसको पराया मानकर क्रोध किया जाय।

भूल से गलती होती है, क्षमा करो, दया करो। उसको सुधरने का अवसर दो, घृणा मत करो। क्रोध से कभी किसी का हित नहीं होता है। क्रोध के समय हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। हम ठीक से सोच नहीं पाते हैं कि क्या करना चाहिए। मस्तिष्क का ज्ञान-प्रकाश बुझ जाता है। इसलिए बहुत धैर्यवान होना चाहिए। कहा जाता है—न्यायाधीश को तेजवान होना चाहिए और तेजवान का मतलब क्रोधी। जबकि न्यायाधीश को तो और शांत होना चाहिए। न्यायाधीश हो, गुरु हो, समाज का अगुआ हो, घर का अगुआ हो, डॉक्टर हो, मास्टर हो, और कोई भी हो, जो कुछ लोगों को लेकर चलता हो, उसको बहुत धैर्यवान होना चाहिए। साथी लोग क्षुब्ध हो जायें तो हो जायें, वह क्षुब्ध न हो। तभी समूह निभाया जा सकता है। जहां बहुत लोग हैं, वहां सब एक प्रकार के नहीं होते। उनको लेकर चलने में बहुत मेहनत है। बिना धीरज के यह संभव नहीं है। इसलिए धीरज रखना बहुत जरूरी है। समाज के अगुआ को ही नहीं, गुरु को भी समझना चाहिए कि मैं समाज का सेवक हूं। गुरु को तो भूलकर नहीं मानना चाहिए कि मैं किसी का गुरु हूं। मैं समाज का सेवक हूं। क्रोध छोड़कर ही सेवा संभव है।

भूमि शयन तन बसन करि, फल भक्षत आराम।
निशदिन रहत आरण्य में, तेहु सतावत काम॥ 75॥

जो तपस्वी शरीर को ही वस्त्र मानते हैं—नंगे रहते हैं, जंगल में फल खाते हैं और भूमि पर ही आराम करते हैं और शयन करते हैं और रात-दिन जंगल में ही रहते हैं, उन्हें भी काम-वासना पीड़ित करती है।

गुरु-उपासना, संत-सेवा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की साधना से ही वासना पर पूर्ण विजय मिलती है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए कि मैं पूर्ण हूं। बहुत सावधानी की जरूरत है। श्री विशाल देव ने कहा है—

है प्रारब्ध कुसंग जग, ताते नेम बनाय।
सतसंगति आधार दे, साधन में ठहराय॥
सद्ग्रंथन को देखि के, शोधो मन निशियाम।
आप-आप में सजग होय, बसो स्वतः निज धाम॥

साधक कभी प्रमाद न करे। अपनी इन्द्रियों का निरर्थक स्पर्श कभी न करे। अपनी शक्ति कभी क्षय न करे। विरोधी आलम्बन के प्रति कभी उन्मुख न हो। पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष विरोधी आलंबन हैं। कुचिंतन का छेद न होने दे। बड़े-बड़े बांध में बाल के बराबर छेद हो जाने पर धीरे-धीरे इतनी भयंकर धार फूट पड़ती है कि वह पूरे एरिया को पानी में डुबो देती है। कुचिंतन छेद है, जो साधक को भ्रष्ट कर देता है। कुचिंतन न करे। सदैव सादा और स्वल्प भोजन करे। कम खाने पर सदैव ध्यान दे। चाहे सुबह हो, चाहे शाम हो, चाहे दोपहर हो, सदैव कम खाये। खूब खाने वाले का ब्रह्मचर्य शुद्ध नहीं रहता। कम खाने से पेट साफ रहेगा और मन साफ रहेगा। स्फूर्ति रहेगी, शांति रहेगी। ब्रह्मचर्य के जितने नियम हैं, उनका दृढ़ता से पालन होना चाहिए। साधु-संगत, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन, रहनी, विवेक में रहे।

काम नहीं यह काल है, काम अपर्बल वीर।
जब उमगत है देह में, ज्ञानिन करत अधीर॥ 76॥

यह काम नहीं, काल है, यह प्रबल वीर है। जब यह शरीर में उमगता है, तो ज्ञानियों को भी अधीर कर देता है।

इसके लिए उदाहरण हैं—नेमि ऋषि, विश्वामित्र, शृंगी ऋषि, नारद कितने नाम लिए जायें। ये लोग भटक गये। अपने को बड़ा मानने वाले

संगदोष में पड़कर बह गये। जब आदमी कुसंग में पड़ता है हजार ज्ञान की युक्तियां याद नहीं रहतीं। इसलिए परहेजगारी काम करेगी, बहुत ज्ञान काम नहीं करेगा। बौद्धिक ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान यह बहुत काम नहीं करेगा। सावधानी तथा कुसंग का वर्जन काम करेंगे। साधक को दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए कि हमारा मन कभी मलिन न हो। कुचिंतन पर सदैव सावधान रहे। सुबह से उठकर प्रतिज्ञा कर ले कि काम-कुचिंतन नहीं होने दूंगा, मन में आ जायेगा, तो तुरंत धक्का देकर हटा दूंगा। इसकी जब दृढ़ धारणा हो जाती है, तब काम चिंतन होता ही नहीं। जहां-जहां से कुचिंतन की संभावना हो वहां से सावधान हो जाय। जिन खान-पान, वस्तु, व्यवहार, बरताव, संग, भूमिका आदि से मन मलिन होने की संभावना होती है, उन्हें विष की तरह त्यागे। जो साधक स्त्री के अंगों का चिंतन करता रहेगा, और स्त्रियों से मिलने पर उन्मुख होकर उनका साथ करने की चेष्टा रखेगा, एकांत-लोकांत में मिलेगा, वह भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। कुचिंतन बिलकुल होने न दे। स्त्रियां मिलें तो वे मां स्वरूप हैं। उनसे गंभीरता से मिले। व्यवहार करके, वहां से अलग हो जाय। बात करने के लिए उन्मुख न हों। कबीर साहेब ने कहा है—

नारी निरख न देखिये, निरख न कीजै गौर।
निरखत ही से विष चढ़े, मन आवे कुछ और॥ कबीर साखी॥

कबीर साहेब ने तो एक-एक विषय पर बीसियों, पचासों वचन कहे हैं। मनन करे, आचरण करे और उस पर चले। पुरुष की दृष्टि से उन्होंने कहा कि नारी को निरख करके न देखे। व्यर्थ घूर करके न देखे। **निरख न कीजै गौर।** निरख = गौर करना, ध्यान देकर देखना। साधक ऐसा न करे। **निरखत ही से विष चढ़े।** जब तुम निरखोगे, दृष्टि गड़ाकर देखोगे तो तुम्हारे मन में विष चढ़ जायेगा। **मन आवै कुछ और।** मन में कुछ और ही आयेगा, इसलिए बहुत सावधान!

जिन गहि जीता काम को, सोइ ज्ञानी सोइ सिद्ध।
नहिं तो थोथी बात है, घर घर करत असिद्ध॥ 77॥

जिन्होंने पूर्णरूपेण काम-वासना को जीत लिया, वही ज्ञानी है, वही

सिद्ध है। नहीं तो ज्ञान–वैराग्य की बकबक व्यर्थ बात है। ऐसे बकवादी तथा कच्चे लोग तो घर–घर मारे–मारे फिरते हैं।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

30 सितंबर, 1995 ई०)

चौदहवां प्रवचन

विष बेली संसार में, प्रगट भई है नारि।
सुर नर मुनि औ देवता, खाइनि सब जग झारि॥ 78॥
हाड़ चाम औ रुधिर में, मांस चर्म में सोय।
नारि कूपिका नरक की, समुझ सयाने लोय॥ 79॥
मांस ग्रंथि उर रार मुख, रही रोमते छाय।
नारि कहत याको सकल, डाँकिन होय जग खाय॥ 80॥
ज्ञान हरै क्रिया हरै, बल वीर्य हरै लाज।
यश लक्ष्मी कीरति हरै, हरै तप मुक्ति समाज॥ 81॥

काम का आलम्बन शरीर है। अपना शरीर भी एक माया है। उसी के कारण जीव अहंता-ममता में पचता रहता है। फिर दूसरे के शरीर को देखकर आकर्षित होता है—नारी के शरीर में नर और नर के शरीर में नारी। ये विरोधी आलम्बन हैं। इन आलम्बनों में मनुष्य का मन आसक्त होता है। ग्रंथकार कहते हैं, शरीर विष की लता है। इस विष की लता से प्रभावित होकर सब जीव विक्षुब्ध हैं। संसार के जितने मनुष्य हैं, उनका नाम सुर हो, नर हो, मुनि हो, देवता हो, जिनको वैराग्य नहीं है, वे अपने माने हुए शरीर में, दूसरे के माने हुए शरीर में आसक्त होकर भोग भोगना लक्ष्य समझते हैं। शरीर कल्याण-साधन है। भोग की दृष्टि से इसे देखा जाता है कि योग की दृष्टि से यह फर्क है। योग की दृष्टि से देखने से इससे कल्याण होगा और भोग की दृष्टि से देखने से नरक होगा। शरीर में है क्या? हाड़ है, चाम है, रुधिर है, मांस है, शरीर नरक का कुआं है। मांस की गांठें जगह-जगह हैं। चाहे वह छाती हो, मुख हो, चाहे टट्टी-पेशाब की जगहें हों, सब मांस की गांठ ही तो है। रोम-रोम में गंदगी है। जिसको लोग सुख का आधार मानते हैं, वह नरक की पोटली है। जो काम-भोग में पड़ता है, उसका ज्ञान हरण हो जाता है। उसके मन में जहर हो जाता है। बल-वीर्य,

यश–लक्ष्मी और कीर्ति इन सब का हरण हो जाता है। तपस्या उसके जीवन में नहीं रहती। मुक्ति की सारी सामग्री नष्ट हो जाती है। शरीर को काम में उद्वेगित करने वाले का चारों ओर से विनाश होता है।

कछु दिन बिलसत प्रीतिसों, मानत मन में मोद।
तन छूटे पर जाइके, बसी करत निज गोद॥ 82॥
मनसा वाचा कर्मणा, त्याग कीजिए नार।
हतै स्वर्ग अपवर्ग सुख, दुखदाई निर्धार॥ 83॥
बाघिन रूप धरि गाय के, वृषभन प्रिय करि मान।
सुख की बेड़ी याहि है, विश्वास घातिनी जान॥ 84॥
मूत्र रक्त दुर्गन्ध दृढ़, अमेध्य धूपित द्वार।
चर्मकुण्ड में जो रमै, पचे सो तहाँ निर्धार॥ 85॥

लोग कुछ दिन उल्लसित होकर काम–भोग में अपने को उद्वेगित करते हैं, आनंद मानते हैं। लेकिन जवानी चली जाती है। सारी योग्यता चली जाती है, और आदमी फिर उसी गर्भवास का पहुना होता है। इसलिए मन से, वचन से, कर्म से काम–भोग का त्याग करना चाहिए। यह लोक–परलोक सब के सुख का नाशक है। शरीर जो हो, स्त्री के शरीर को पुरुष और पुरुष के शरीर को स्त्री आकर्षक, आनंदमय मान लेते हैं। किन्तु वह क्या है? भयंकर है। देखने में कोमल है। स्त्री के लिए पुरुष का शरीर आकर्षक है और पुरुष के लिए स्त्री का। लेकिन यह आकर्षक नहीं है, भयंकर है, दुखदायी है। यह काम–भोग ही सुख की बेड़ी है। इस बेड़ी में पड़कर लोग जीवनभर दुख पाते हैं। शरीर में पेशाब, रक्त, टट्टी और सब प्रकार की गंदगी ही भरी हुई है। **अमेध्य धूपित द्वार** यह अपवित्र है। इसका द्वार धूपित है, चिकनाया है। लेकिन अंदर में गंदगी ही भरी है। जो चाम के कुएं में रमता है, वह असहाय होकर दुख भोगता है।

कुटिल डिम्भ संयुक्त है, सत्य शौच नहिं ताहिं।
जीवन के बन्धन यही, प्रिय करि मानत जाहिं॥ 86॥
तीन लोक की जननी, सो भग नर्क निदान।
तहाँ जाय जिव रति करत, अन्तहु सोई ठिकान॥ 87॥

जानो नारी नरक है, निश्चय बंधन माँहि।
ना जाने मन काहे को, तहँवाँ दौरो जाहिं॥ 88॥
भग आदि कुच पासलों, घोर नर्क की खान।
जो नर तहँवाँ रमत हैं, सो जियतहि नर्क समान॥ 89॥
विष्ठा नरक को भोग यह, भग जो भया निर्मान।
क्यों नहिं जानत चित्त तू, तहाँ क्यों धावत जान?॥ 90॥

जिसको लोग सुख का साधन मानते हैं, उन स्त्री और पुरुषों के मन कितने कुटिल होते हैं। वे कितने दंभी होते हैं। वे एक-दूसरे को ठगते हैं। न उनमें शुद्धता है, न पवित्रता है। जीवन का बंधन काम-भोग है। जिसको लोग बहुत प्रिय मानते हैं, वह नरक की खदान है। वहां जीव पड़कर अंत में दुख पाता है। इसलिए सभी साधकों को समझना चाहिए कि शरीर नरक का घर है। यह तो निश्चित है इसे कामभोग की दृष्टि से देखने से बंधन है। फिर भी आदमी उसी में पचता रहता है। शरीर के जिन अंगों में हम आकर्षण मानते हैं, उन सब अंगों में क्या है? जहां-जहां आनंद मानते हैं, वहां-वहां टट्टी-पेशाब है। मुख में खखार है। आंखों में कीचड़ है, सारे शरीर में नरक है। जो आदमी इसमें रमता है, उसका अंत में नरक है। शरीर के सारे अंगों को विवेक से देखा जाय, तो यह हड्डी की झोपड़ी है, गीला चाम लपेटा है, टट्टी-पेशाब भरी है। काम-क्रोध, लोभ-मोह उद्वेगित करते हैं। पूरे शरीर में जहर है। इसको साधना की तरफ मोड़ देने से ही दुख से निवृत्ति होती है।

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥ कबीर साखी॥

यह शरीर विष की लता है, और गुरु अमृत की खान हैं। जिन्होंने अपने आपको पूर्ण देहाभिमान से निवृत्त कर स्वरूपस्थिति पायी है, वह अमृत है। ऐसा व्यक्ति अमृतमय हो जाता है। ऐसे अमृतमय गुरु की शरण में समर्पित होकर रहना चाहिए।

चर्मकुण्ड दुर्गन्ध दृढ़, भग सो नर्क बखान।
देव दैत्य औ नर सकल, खण्ड्यौ सबन को ज्ञान॥ 91॥

जो चाम का कुआं और दुर्गन्ध का घर है, चाहे इसमें देवता रमते हों, दैत्य रमते हों, अच्छे रमते हों, बुरे रमते हों सबका ज्ञान थोथा है। उन सबका ज्ञान खण्डित हो जाता है, बेकार हो जाता है।

देह नर्क महा घोर में, पूरित श्रोणित जान।
निर्माण भई बड़वामुखी, भग मुख तिरिया जान॥ 92॥

यह देह नरक है, महाघोर है, घृणित है, रक्त से भरा है, यह बड़वामुखी के समान है। बड़वामुखी निरंतर प्रज्वलित रहता है। इसी प्रकार देह में सब समय ताप प्रज्वलित है? मानसिक ताप, शारीरिक ताप, हर प्रकार से ताप हैं। इस ताप को शांत करने के लिए ज्ञान, भक्ति, वैराग्य ही औषध है। इस औषध का सेवन करें, नहीं तो उसी बड़वामुखी के ताप में जलना पड़ेगा।

भीतर सब विधि नरक है, बाहर कीन्ह सिंगार।
तू नहिं जानत बावरे, ज्ञान विरोधिनि नार॥ 93॥

जिस शरीर को तुम आनंद का घर मानते हो, वह बाहर से शृंगार करके क्षणिक आकर्षण उत्पन्न करता है। लेकिन वह नरक की पोटली है। ऐ पगले! तुम नहीं जानते हो कि देहाभिमान ज्ञान-ध्यान का विरोधी है। उसमें पड़कर सब चौपट हो जाता है।

क्यों नहिं जानत चित्त तू, भग है बन्धन रूप।
दुर्गन्धित अतिशय मलिन, जाय परत तेहि कूप॥ 94॥

मनुष्य को समझना कि यह जो क्षणिक भोग है, बंधन रूप है। इसमें पड़कर आदमी अपने आपको खो देता है। यह अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, अत्यन्त गंदगी का ठौर है, ऐसे अंधकार के कुएं में क्या पड़ते हो।

ऐसो मलिन विचारि के, ज्ञानिन त्यागो सोय।
ताहि जीव नित चाहै, महा विडम्बन होय॥ 95॥

इस प्रकार इसकी मलिनता को विचार कर ज्ञानियों को काम-भोग का त्याग करना चाहिए। अगर इसमें कोई रमता है तो वह महा धोखे में है।

तत्र मूत्र जो रमत है, देव दैत्य नर कोय।
ते निश्चय नरक गये, संशय करो न कोय॥ 96॥

देवता, दैत्य, मनुष्य कोई भी हो; मनुष्य ही देवता-दैत्य है। अगर अपने को काम-भोग में उत्पीड़ित करता है, तो निश्चय समझ लो कि वह अपना नरक कर रहा है।

अग्नि कुण्ड सम नारि है, घृत समान नर होय।
छूवत ही पिघलत तुरत, ताते वर्जित सोय॥ 97॥

जैसे अग्नि के संपर्क में घृत पिघल जाता है, वैसे स्त्री या पुरुष एक-दूसरे के संपर्क में आकर विचलित हो जाते हैं। इसलिए एक-दूसरे की संगत वर्जित है। पर-पुरुष से नारी दूर रहे और पर-नारी से पुरुष दूर रहे और साधिका पुरुष मात्र से तथा साधक नारी मात्र से दूर रहे।

गुड़ महुआ और दूध की, तृतिया मदिरा जान।
चौथी मदिरा नारि है, मोहा सकल जहान॥ 98॥

गुड़, महुआ और दूध से लोग मदिरा बनाते हैं। लेकिन महा भयंकर मदिरा तो देह का अभिमान है, कामभोग का नशा है, जिसमें सारा संसार मोहित है। इसलिए इस मदिरा का त्याग करो।

मदिरा नारी कुटिलनी, दोउ त्यागिये मीत।
अश्वस्थित करै चित्त को, नरक दायिनी नीत॥ 99॥

हे मित्र! शराब और काम-भोग दोनों त्यागने योग्य हैं। देहाभिमान तथा काम-भोग में उन्मत स्त्री-पुरुष कुटिल होते हैं। वे एक दूसरे को छलते हैं और उसी भोग को जीवन-प्राण मानते हैं। देहाभिमान एवं काम-भोग चित्त को अस्त-व्यस्त कर देता है और उसका जीवन नरक हो जाता है।

नारी यंत्र न त्यागिया, मोहित भया निदान।
ते दृढ़ बन्धन में परे, धृग ताको सब ज्ञान॥ 100॥

काम-भोग के कोल्हू में पिसने की प्रक्रिया जिन्होंने सर्वथा नहीं छोड़ी और अंततः मोहित होकर उसी में पड़े रहे, वे कठोर बंधन में पड़ गये। उनके सारे ज्ञान को धिक्कार है।

ज्यादातर पुरुष साधक हुए हैं। वैराग्यवान हुए हैं, इसलिए वे अपने विरोधी आलंबन से अपने मन में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए स्त्री-देह पर घृणा व्यक्त किये हैं। स्त्री साधिका को इसी प्रकार पुरुष के लिए समझकर अपने मन में वैराग्य उत्पन्न करना चाहिए।

नष्ट चित्त को करत है, धात करत है नाश।
चिन्ता को उत्पत्ति करत, नारि रहत जो पास॥ 101॥

स्त्री साथ में रहेगी तो चित्त विचलित होगा, वीर्य नष्ट होगा तथा मन चिंताग्रस्त होगा। पुरुष की संगत से स्त्री का उसी प्रकार पतन होगा।

कामभोग में पड़ने वाले का चित्त नष्ट होता है, भ्रमित होता है। उसके शरीर का जो सार (वीर्य) है, वह नष्ट होता है। जैसे कोई बहुत-सा दूध मथकर घी निकाले, और वह अभागा उसे ले जाकर नाली में डाल दे, तो लोग उसे क्या कहेंगे? वैसे खान-पान से जो शरीर में वीर्य इकट्ठा होता है, और जो शरीर के लिए हितकर है, उसको निचोड़कर फेंक देना कितनी निर्बुद्धिता है। आदमी जितना कामातुर होता है, उतना चिंतातुर होता है इसलिए इसे त्यागो।

सर्वत्र चित्त को रक्षिये, कहुँ जाने नहिं पाय।
सो ज्ञानी दृढ़ जगत है, जाहि नारि नहिं खाय॥ 102॥

अतएव सब तरफ से मन को समेटो। वह कहीं भटकने न पाये। संसार में वही पक्का ज्ञानी है जो मन, वाणी और कर्म से कामवासना से सर्वथा मुक्त है।

अपने चित्त की सर्वत्र रक्षा करो। कुचिंतन न होने दो। गलत आहार-विहार-व्यवहार न करो। अपने को समेटो, अंतर्मुख होओ, और

कामवासना तथा कामभोग का सर्वथा त्याग करो। काम पर सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने बड़ा तीव्र प्रहार किया है। पुरुषों के मन में नारियों के प्रति जो आकर्षण होता है, उसके प्रति घृणा और वैराग्य पैदा किया है। लेकिन नारियां भी कल्याणार्थी होती हैं। उनका मन पुरुषों के शरीर में जाता है। तो नारी और पुरुष कुछ नहीं, दोनों दोनों को देखकर आकर्षित होते हैं, इसलिए दोनों दोनों से सावधान!

नारी मोहे पुरुष को, पुरुष वशी सो होय।
बड़ी परस्पर लाग है, जीव विकल रहे रोय॥ पंचग्रंथी॥

सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है कि नारी पुरुष को मोहती है और पुरुष के वश में नारी हो जाती है। दोनों में बड़ी लाग है। इसमें पड़कर जीव विकल होकर रोते हैं। इसलिए इसका त्याग करो। ज्ञानी वही है जो इसका सर्वथा त्याग कर देता है।

वर्षत मेघ अखण्ड विधि, हरियर भई बन घास।
हम बैठे गिरि कन्दरा, कोई न आवत पास॥ 103॥

वर्षा आ गयी है। बादल अखण्ड रूप से वर्षा कर रहे हैं। जंगल की घास हरी-भरी हो गयी है। मैं पर्वत की कंदरा में बैठा हूं। मेरे पास कोई नहीं आ रहा है।

खगकुल मृगकुल रहत बन, सोई हमारे मीत।
भादों रात अन्धारिया, नहिं काहू की भीत॥ 104॥

पक्षी और पशु वन में रहते हैं। वे ही हमारे मित्र हैं। भादों की अंधियारी रात है, परंतु मुझे किसी का भय नहीं है।

सब तरफ से निष्काम हो जाने पर पूरी निर्भयता आ जाती है। शरीर से संसार तक की आसक्ति सर्वथा छूट जाने पर किस बात का भय हो सकता है!

निर्भय निज पद में रहै, सर्प सिंह लिये साथ।
कहा ग्राम पुर पाटन, कहा धनिक नृप नाथ॥ 105॥

हम निर्भय अपने पद में हैं, निज स्वरूप में हैं। सांप और सिंह अपने साथ में लिए हैं। सांप-सिंह लेने का मतलब है, जंगल और पर्वत में सांप और सिंह रहते ही हैं। ग्राम हो, पुर हो, पाटन हो, धनिक हो, नृप हो, स्वामी हो, उनसे हमें क्या प्रयोजन है?

कोइ न हमारो जगत में, न हम काहु के मीत।
सत्संगति प्रताप बल, रहे मोह गढ़ जीत॥ 106॥

न कोई हमारा है, न हम किसी के हैं। हमारा कोई मित्र नहीं, हमारा कोई शत्रु नहीं। सत्संग के प्रताप से हम मोह गढ़ पर विजय प्राप्त करते चले जा रहे हैं। मोह पर विजय हो जाना जीवन की सफलता है। संसार को तो छोड़ना है ही। मोह करके छोड़ो, चाहे मोह त्याग कर छोड़ो। कोई बच नहीं सकता। इसलिए मोह त्याग कर छोड़ो। अपना कर्तव्य करो, और मोह त्याग कर रहो। अंतिम में छोड़ोगे तो अभी मोह करके क्या करोगे? हमें निर्मोह अवस्था में जीना चाहिए।

धारा वर्षे मेघ की, घट में वर्षे प्रेम।
हम बैठे आनन्द में, राति-दिवस नहिं नेम॥ 107॥

बाहर आकाश से मेघ की धारा बरसती है। बादल पानी की धारा बरसाते हैं, और हमारे हृदय में प्रेम की धारा बरसती है–स्वरूप प्रेम, आत्म प्रेम। मनुष्य यही तो चाहता है कि अखण्ड आनन्द मिले, अनंत सुख मिले। और वह कहीं बाहर नहीं, वह आनंद अपने में है। कामनाओं का परित्याग कर अपने आप में स्थित हो, बस आनंद। देश और काल की दूरी जिसमें हो, वह चिंता का विषय हो सकता है। जो दूसरे देश में मिले और दूसरे काल में मिले, उसमें परेशानी है। जो इसी काल में है और इसी देश में है उसके लिए क्या परेशानी है। अपना स्वरूप दूसरे देश-काल में नहीं मिलता, किन्तु इसी देश-काल में है। जिस देश में बैठा हूं, मैं स्वयं हूं। और इसी काल में मिलता है। अपने से मिलने की बात क्या है? वह तो मिला-मिलाया है। बस, मन का मोह छोड़ना है, जो बाहर का है। बाहर का मोह है इसलिए हम अपने से नहीं मिलते हैं। बाहर का मोह छूट गया, फिर न रात, न दिन, हम सदैव स्वरूपमग्न हैं।

ऊपर चमकै बिजुली, घट में ज्ञान प्रकाश।
अनहद गरजै मेघ जो, छूटि जगत की आश॥ 108॥

ऊपर आकाश में बिजली चमकती है, और हमारे हृदय में ज्ञान का प्रकाश है। ऊपर मेघ गरजते हैं और हमारे दिल में अनहदनाद की गर्जना होती है। अनहदनाद-श्रवण भी एक साधना है। जिसमें कानों को बंद कर उसे सुना जाता है। अभ्यासी को बिना कान बंद किये ही सब समय सुनाई पड़ता है। क्योंकि शरीर एक बहुत बड़ा संयंत्र है, और इस यंत्र में आवाज होती रहती है। जगत की हमारी सारी कामनाएं छूट गयी हैं।

घट आनन्द धारा बहै, ऊपर बहै जो नीर।
मोहिं हर्ष नहिं शोक कछु, चहुँदिश बहै समीर॥ 109॥

बाहर पानी की धारा बहती है और मेरे हृदय में आनंद की धारा बहती है, क्योंकि कामवासना, तृष्णा नहीं है। कुछ बाहर से पाने की जरूरत नहीं है। इसलिए मैं आनंदधाम में हूं। इसलिए मुझे न हर्ष है और न शोक है। चारों तरफ हवाएं बह रही हैं, मैं आनंद में लीन हूं।

पपिया पिउ-पिउ करत हैं, चहुँदिश कुहकत मोर।
हम बैठे आनन्द में, सुनत श्रवण ते शोर॥ 110॥

पपीहा पक्षी पीव-पीव की आवाज करते हैं। चारों तरफ मोर कुहकते हैं। मैं आनंद में बैठा हूं और उनके शोर आनंद से सुन रहा हूं।

यहि विधि वर्षा बीतई, आई शरद अनयास।
निर्मल बादल हो गये, चहुँदिश फूली कास॥ 111॥

इस प्रकार वर्षा ऋतु बीत गयी, और अनायास शरद ऋतु आ गयी। बादल छट गये और आकाश स्वच्छ हो गया। काश नाम की घास चारों तरफ फूल गयी। जब काश फूल जाती है, तब किसान समझ जाते हैं, अब वर्षा ऋतु समाप्त हो गयी।

देखि शरद की चाँदनी, उत्तम शिला अपार।
निर्मल जल सरितान को, अरु आरण्य विहार॥ 112॥

शरद ऋतु की चांदनी देखी, और उत्तम विशाल शिला पर आसन लगाया। पहले तो गुफाओं में था, क्योंकि वर्षा थी। अब खुले में आ गया। मैं नदी का निर्मल जल पीता हूं और जंगल में स्वच्छंद विहार करता हूं, भ्रमण करता हूं, घूमता हूं।

भूख लगी तब माँगिबो, भीख अन्न एक बार।
भक्षण करि सरितान को, नीर पीजिये सार॥ 113॥

जब भूख लगती है तब तराई में उतर जाता हूं। बस्ती में एक बार भिक्षा कर खा लेता हूं और नदी से पानी पी लेता हूं।

नींद लगै तब सोइये, उत्तम थल एकान्त।
ओढ़ि गूदरी इन्द्र ज्यौं, वृत्ति करिये निरान्त॥ 114॥

जब नींद लगी तब स्वच्छ एकांत स्थान में सो गये। मेरा ऐश्वर्य इंद्र के समान ही नहीं, उससे ऊंचा है। गुदरी ओढ़कर सो गये अथवा जब तक जागते रहते मनोवृत्ति को शांत कर समाधिमग्न रहे।

चलन फिरन स्वच्छन्द सो, काहू की नहिं आश।
राजा रंक समान हैं, रहै न काहु के पास॥ 115॥

स्वच्छन्द होकर चलते-फिरते हैं। किसी से कोई आशा नहीं रखते हैं। हमारे लिए राजा और दरिद्र एक समान हैं। हम किसी के पास न रहकर स्वच्छन्द रहते हैं।

श्मशान में गृह शून्य में, की धूनी के पास।
की तो ओढ़े गूदरी, की तो बिछावै घास॥ 116॥

श्मशान में, सूने घर में या धूनी के पास घास बिछा और गुदड़ी ओढ़कर सो जाते हैं या ध्यान करते हैं।

शरद निशा की चाँदनी, चहुँदिश करत विहार।
भूमि शयन वल्कल वसन, कन्द मूल फलहार॥ 117॥

मैं शरद निशा की चांदनी में वन की सब दिशाओं में भ्रमण करता हूं, भूमि पर सोता हूं, वृक्षों की छाल पहनता हूं और कंद, मूल तथा फल का भोजन करता हूं।

शरद निशा की चांदनी बहुत प्रशंसनीय है। क्योंकि गरमी में जमीन खुश्क हो जाती है और तेज हवा चलती है जिससे धूल उड़-उड़कर आकाश में छा जाती है। आकाश गर्दा-गुब्बार से भरा रहता है। इसलिए उस समय की चांदनी अच्छी नहीं लगती है, धूमिल रहती है। वर्षा काल में बारिश से सारी धूल जमीन में आकर बैठ जाती है। जब शरद का समय आता है, तब आकाश निर्मल हो जाता है। न उस समय गरमी है, न ठंडी है और न वर्षा। उस समय की चांदनी मनोहर होती है। बाहर शरद-निशा की चांदनी है और भीतर ज्ञान-वैराग्य की चांदनी है।

बीति शीत यहि भाँति सो, आयो सरस बसन्त।
आँबा टेसू फूलही, शोभित बन दर्शन्त॥ 118॥

इस प्रकार शीत काल बीत गया और बसंत ऋतु आ गयी। अब आम और टेसू फूल गये। इसलिए वन सुंदर दिखने लगा।

शिला पलंग दिग बसन करि, वापी कूप तड़ाग।
शीतल छाया वृक्ष की, निर्विकल्प वैराग॥ 119॥

शिला को पलंग बना लिया, और दिशाओं को वस्त्र बना लिया। वापी, कूप, तड़ाग मेरे जल-पात्र हैं। वृक्ष की शीतल छाया है और कल्पनाशून्य वैराग्य है।

फल पावत उत्तम सरस, पीयत शीतल नीर।
गावत उत्तम गीत तहाँ, त्रिविधि बहत समीर॥ 120॥

जंगल के उत्तम मीठे फल खाते हैं, नदी-झरने के शीतल जल पीते हैं, और वैराग्य के उत्तम गीत गाते हैं। चारों तरफ शीतल-मंद-सुगंध हवा चल रही है।

कहा मन्दिर सम्पत्ति कहा, कहा त्रियन के भोग।

ये सबहीं छिन भंग हैं, अचल समाधी योग॥ 121॥

महल, मंदिर, सम्पत्ति-ऐश्वर्य और सुंदरियों का सहवास कहां स्थिर सुख दे सकते हैं? ये सब क्षणभंगुर हैं। निर्विकल्प अविचल समाधि जो सच्चा योग है वही स्थिर सुख देने वाला है।

मंदिर और बड़े-बड़े भवन क्या हैं? ईंट-पत्थर। स्त्री-पुरुष का सहवास क्या है? मलिनता और क्षीणता। अचल समाधि में स्थिति ही जीवन का फल है। **बाहर का पट बंद कर, भीतर का पट खोल।** बाहर के पट को बंद करो और भीतर के पट को खोलो। बाहर जो मन खिंचता है, उसके प्रति वैराग्य करो। एकाग्रता जीवन की सफलता है। धन, मठ, पद, प्रचार, शिष्य, शाखा लोक हित के लिए ठीक हैं। लेकिन ये अपने लिए कुछ काम करने वाले नहीं हैं। कोई बड़ा आश्रम बना ले, इससे वह बड़ा साधक नहीं है। उसके बहुत चेले-चाटी हो गये, इससे वह सफल नहीं। धन बहुत इकट्ठा हो गया, इससे वह सफल नहीं है। दुनिया के पदार्थों को बटोर लिये इससे वह सफल नहीं है। सफल वह है, जो समाधि में जाये। मन को एकाग्र करे, निर्विकल्प हो, आत्मतुष्ट हो, आत्मसंतुष्ट हो।

मठाधीशों में प्रायः यह भ्रम है कि वैराग्य की चर्चा से साधु आलसी हो जायेंगे। महंत लोग चाहते हैं कि मठ में ज्ञान-वैराग्य की चर्चा न हो। उनका मत है, काम-धाम खूब करो। ज्ञान-ध्यान की चर्चा करोगे तो काम-धाम सब छोड़ दोगे। दो-दो घंटा सुबह-शाम बैठकर ध्यान और पठन-पाठन क्यों करते हो। अरे! कुदारा लो और खेत में जाओ और काम करो। ऐसे महंत श्री पूरण साहेब का वंदना सोरठा पाठांतर कर ऐसा बना लेते हैं—

बंदौं चरण सरोज, जिन्ह यह कुदरा निर्मयो।

परख दिखायो खोद, ते गुरु सम दूजा नहीं॥

जिन्होंने कुदाली का निर्माण किया, उनके चरणों की वंदना है। उन्होंने खोदकर, परखकर दिखाया कि इसमें से अन्न मिलता है। उन गुरु के समान दूसरा कोई नहीं! ऐसे-ऐसे महंत होते हैं। जीवन भर हाय-हाय करते-

करते चले जाते हैं। इसलिए–

ज्ञान बढ़े वैराग्य बढ़ै, होय अचाह निष्फिक्र।
और बढ़े तो का बढ़े, बिन कलिमल मन जिक्र॥

(विशाल वचनामृत)

ज्ञान–वैराग्य बढ़े तो आदमी निष्काम हो, निश्िंचत हो। लौकिक धन बढ़ा तो क्या बढ़ा? बिना मनोविकार के मनोद्वेग नहीं होता। इसलिए साधु के जीवन में ज्ञान–वैराग्य बढ़ना चाहिए, समाधि–लाभ होना चाहिए और समाधि–लाभ तभी होगा, जब अखण्ड वैराग्य होगा। निरंतर चिंतन–मनन से वैराग्य बढ़ता है। स्वाध्याय, सत्संग, साधना, चिंतन–मनन से वैराग्य बढ़ता है। अंदर की कसर धीरे–धीरे समाप्त हो जाती है। मन का कुचिंतन घटता जाता है। धीरे–धीरे चित्त निर्मल हो जाता है। किसी प्रकार का आकर्षण नहीं रहता।

स्वाद में, गंध में, स्पर्श में, मान–बड़ाई में, पद–प्रतिष्ठा में जो आकर्षण है, साधना में लगने पर अपने आप छूटता चला जाता है। सारा आकर्षण बालपन है। सारा आकर्षण एक भ्रम और झांईं है। श्री पूरण साहेब ने कहा है–झांई झांकते जीव भटक गया। झांईं, परिछाईं, आभास, भ्रम, अध्यास ये हमारे मन के धोखे हैं। जितना वैराग्य बढ़ेगा, हम उतना स्ववश होते जायेंगे। आत्मतुष्टि, आत्मशांति, आत्मतृप्ति जीवन की सफलता है। और कोई चीज किसी के काम आने वाली नहीं है। हाय–हाय करते–करते गृहस्थ मरते हैं, और कितने साधु–वेषधारी भी मरते हैं। कल्याण का काम करने वाला ही सफल है।

हहा हाय हाय में सब जग जाई। हर्ष सोग सब माहि समाई॥
हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ। हा हा मर्म न काहू पयऊ॥

(बीजक, ज्ञान चौंतीसा)

हर्ष–शोक में पड़कर हाय–हाय करते हुए सारा संसार मर रहा है। हाय–हाय जिसके चित्त से मिट गया, उसी का जीवन सफल है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
1 अक्टूबर, 1995)

पंद्रहवां प्रवचन

ना काहू सो माँगना, ना काहू को देन।
अनइच्छा जो कछु मिलै, सो भोजन करि लेन॥ 122॥

न किसी से कुछ मांगना है और न किसी को कुछ देना है। बिना इच्छा किये जो कुछ मिल गया, उसे शुद्ध सुपाच्य देखकर ग्रहण कर लिया।

कथन के कई रूप होते हैं और सभी रूप सापेक्ष होते हैं। सापेक्ष का मतलब है एक तरह से। इसलिए साधक को सम्यक दृष्टि अपनानी चाहिए। इसी ग्रंथ में सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है, जब भूख लगे, तब एक बार भिक्षा मांग कर खा लेते हैं। यहां कहते हैं, किसी से न मांगना है, न किसी को कुछ देना है। ये दोनों ही स्थितियां अलग-अलग हैं। ऐसा रहे कि मांगे न, जो मिल जाय, खा ले। संतोष रखो मिल जायेगा। मान लो, ऐसी स्थिति हो वहां कोई देनेवाला ही न हो। कोई समझता ही न हो, तो भूखों मरना समझदारी नहीं है। इसलिए उस स्थिति में मांग लो। न मांगना न देना। जब कुछ पास है ही नहीं तब देने का क्या प्रसंग है। पास में है, और स्थिति आने पर नहीं देता है, और कहता है कि पूरण साहेब ने लिखा है कि न दें। मैं मांगता भी नहीं और दूंगा भी नहीं, यह समझदारी नहीं है। मैं नहीं मांगता हूं, लेकिन पास में चीज है, तो समय आने पर किसी को देना चाहिए।

जासु मोह सब जीव को, डर उपजत है जान।
सो देही छिन भंग है, ठहरै नाहिं निदान॥ 123॥

जिस देह के मोह को लेकर मन में डर उत्पन्न होता है कि इसका क्या होगा, वह तो क्षणभंगुर है। अंततः नष्ट होगा ही।

शरीर को लेकर लोगों को डर उत्पन्न होता है, यह रोगी होगा, असहाय होगा, बूढ़ा होगा। कहां इसकी सेवा होगी, क्या होगा? जो मैं प्रबंध करता

हूं, जब मैं नहीं रहूंगा, तब इसका प्रबंध कैसे होगा? साहेब कहते हैं कि यह तो क्षणभंगुर है। अंत में क्या रहेगा, इसके लिए क्यों चिंता करते हो। सहज गुजर करते चलो। जब रोग लग जायेगा तब सेवा करने वाले स्वाभाविक हो जायेंगे। हम अनेक योनियों में रहे, कोई वहां सेवा करने वाला नहीं रहा, और गुजर हो गया। अपने मन को पहले से पीड़ित न करो। जिसको ऐसी चिंता होती है कि इतने साल तक मैंने प्रबंध किया है, मैं नही रहूंगा तब कौन प्रबंध करेगा, वह महा भोला है। कौन प्रबंधक यहां बैठा रहा। बड़े-बड़े साधु, ऋषि, महर्षि, राजा, महाराजा, सम्राट यहां कौन बैठा रहा। काम कर लिये और चले गये। आज जिनकी गर्ज है वे करते हैं। इसलिए ऐसी बात अपने चित्त पर कभी लायें ही न। किसी बात को लेकर दीन न बनें।

नाशवान जो वस्तु है, सो तो ठहरै नाहिं।
तासों लोभ न कीजिये, यह निश्चय मन माहिं॥ 124॥

जो नाशवान वस्तु है, वह हमेशा के लिए ठहर नहीं सकती। इसलिए उसका लोभ मत करो। मन में यह निश्चय रखो कि मन नाशवान वस्तुओं का चिंतन न करे। मनुष्य अपना ज्यादा समय किसमें बरबाद करता है? जो आगमापायी वस्तु है, उसको सोच-सोचकर! सोचो, आत्मस्थिति कैसे हो? तुम्हारा अपना होना एकरस है। तुम्हारे जो आस-पास है, वह एकरस नहीं है। मैं और मेरा में मैं एकरस है, मेरा एकरस नहीं है। मेरा जो कुछ माना है, वह आने-जाने वाला है। और जो मैं तत्त्व है वह एकरस है, अतः अपना समय स्वरूप-चिंतन में बिताये, भौतिक चिंतन में नहीं। सांसारिक वस्तुओं को सोचो कुछ और, हो जाता है कुछ और। अगर सोचो कि इस समय वहां जायेंगे तो वैसा होगा और जाओ तो एकदम भिन्न स्थिति होती है। दृश्य बदल जाता है। जितना तुम्हारा सोचना है वह अलग धरा रह जाता है। अपने ढंग से हो जाता है। आदमी अपने ढंग से सोचता है कि हमारे बाद ऐसा होगा तब वैसा होगा। तुम सोचते रहो, तुम्हारे बाद सब अपने ढंग से हो जायेगा। तुम्हारे रहते-रहते अपने ढंग से हो जायेगा। जीवन में रहते-रहते जो सोचो, वह न होकर जो न सोचो वैसा हो जाता है। **सोचा सो होवै नहीं, अनसोचा सो होय।** इसलिए भौतिक पदार्थों

के लिए ज्यादा न सोचे। खास प्रोग्राम के लिए तो सोचना होगा। लेकिन ज्यादा गढ़े-गुढ़े न। जब जो होगा, हो जायेगा। बारम्बार सोचना है स्वरूप-स्थिति को, संसार की नश्वरता को और आत्मा की अमरता को। इन बातों को हमेशा सोचे। मन के कांटा को निकाल दे, मन की पीड़ा को निकाल दे। भौतिक वस्तुओं का विकास तो बहुत साधारण लोग भी करते हैं। इसलिए इसकी चिंता नहीं होनी चाहिए। चिंता होनी चाहिए निश्चिंत होने के लिए।

जमीन का बड़ा भूखण्ड प्राप्त कर लेना, बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें बना लेना, बैंक में खूब रुपये जमा कर लेना, प्रचार-प्रसार कर लेना, ये तो बहुत लोग करते रहते हैं, और होता रहता है। अपने मन को समेटकर समाधिलीन होना, यह दुर्लभ है। यही करने वाले ही सफल हैं। यह करें और बाहर जितना हो, हो, न हो, न हो। बाहर की चीज कभी पूरी और अपने मन के अनुसार नहीं होती है। यह भी विश्वास करना चाहिए कि केवल करने से नहीं होता है। कई करने वाले हैं, नहीं कर पाते हैं। उसमें कुछ भवितव्यता होती है। जो भवितव्यता होगी हो जायेगी। जो स्वतंत्र काम है, वह स्वरूपस्थिति है। उसमें आगे बढ़ो, शांत-स्ववश मन हो। समय-समय से समाधिलीन हो। चित्त की आग बुझे। समय भागा जा रहा है। मौत निकट आ रही है। शरीर को आज-कल में काल उठा लेगा। उसके उठाने के पहले अपने मन को संसार से उठा कर अपने आप में पूर्ण विश्राम पा जाओ। यही जिंदगी की सफलता है। कर्तव्य होने वाला है वह होता रहेगा। व्यवहार भी क्षणिक है। इसलिए अपना काम करो।

मैंने उस दिन कहा था कि ईसा की पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में फाह्यान चीन से भारत आया था, यहां का भ्रमण करने के लिए तो वह श्रावस्ती को देखा था, जो गोण्डा जिले में है। कुशीनारा को देखा था, जो देवरिया जिले में है। सारनाथ को देखा था, जो बनारस के पास है। इन सब जगहों के लिए उसने लिखा है, उजाड़ है। यह ईसा के चार सौ वर्ष बाद की बात है। वह सब उजड़ा हुआ है।

बौद्धों का नालंदा विश्वविद्यालय जिसमें मोटी-मोटी दीवारें हैं, जिस पर कार चली जाय, खुदाई में निकला। काफी ऊंची दीवारें हैं। वह सब

आज अवशेष है, तक्षशिला में केवल नाम है। तक्षशिला की बड़ी प्रसिद्धि रही है। दृश्य परिवर्तन होता रहता है। लेकिन जो ज्ञान का प्रवाह है वह चलता रहता है। हमको ज्ञान की गर्ज थी, इसलिए इस मार्ग में आये। जब इसको सत्य समझा तो समर्पित हो गये। इसके लिए जो बन सका किये और किया जा रहा है।

सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने बीजक की भावात्मक टीका 'पंचग्रंथी' लिखकर गया में छोड़ी और उसकी कापी श्री काशी साहेब ने शोधकर श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बंबई में छपवाया। उसकी श्री महाराज राघव साहेब ने टीका की, फिर श्री रामस्वरूप साहेब ने की। मैंने टीका की। श्री रामरहस साहेब हम लोगों के पीछे कहां डंडा लेकर पड़े थे कि तुम लोग मेरी पुस्तक की टीका करो। वे तो पंचग्रंथी की कापी छोड़ गये थे। हम लोग उसको लिख-पढ़ रहे हैं, गा रहे हैं। श्री पूरण साहेब बीजक टीका त्रिज्या लिखकर छोड़ गये। कई दशक के बाद प्रकाशित हुई और बराबर प्रकाशित हो रही है। गीता बनाने वाले, त्रिपिटक की रचना करने वाले, जैन आगमों की रचना करने वाले, वेदों-शास्त्रों की रचना करने वाले कौन बैठे हैं? पीछे जिनको दर्द होता है, वह काम करता है। तो किसी भौतिक बात को लेकर जो सोचता है वह समझदार नहीं है। सोचना चाहिए अपनी अमरता के लिए, शांति के लिए, आत्मतृप्ति के लिए। ऐसी जिंदगी जीयें, जो दुखहीन हो, जिसमें परम विश्राम हो। यही जिंदगी की सफलता है।

अविनाशी चैतन्य जो, सबको जाननहार।
सो तू निश्चय धारि ले, सुखमय अवनि बिहार॥ 125॥

तू अविनाशी चेतन है, सबको जानने वाला है, इस स्वरूपविचार को दृढ़तापूर्वक धारण करो, और संसार से निष्काम होकर पृथ्वी पर सुखपूर्वक भ्रमण करो, निवास करो, जीवन बिताओ।

तुम समझो कि तुम नित्य हो, और सब कुछ अनित्य है। अनित्य पदार्थों में मन न बांधो। अपने नित्य स्वरूप में स्थित होओ। अपने मन को समेट लेने पर भय नहीं रहता। भय तो बाहरी पदार्थों में मोह करने से होता है।

परकाशी प्रकाशते, सबको परखनहार।
ना काहू सो काम है, ताको समुझ विचार॥ 126॥

ज्ञान-प्रकाशी चेतन अपने ज्ञान-प्रकाश से सबको परखने वाला है। उसको इस संसार में किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। इस तथ्य को समझो और विचारो।

सकल परखना न कछु गहना, पारख ऊपर थिर होय रहना। यह निर्णयसार में सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है। सबको परखना लेकिन कुछ पकड़ना नहीं, और पारख में स्थित होना। "जहां से तू सबको परखा, सोइ तेरा स्वरूप पारख है।" ऐसा बारम्बार त्रिज्या में सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है। त्रिज्या ओजपूर्ण टीका है। वैराग्य से भरी हुई है। किस पंक्ति का क्या अर्थ है इसकी चिंता छोड़ दीजिए। उस समय की जैसी सूझ-बूझ थी, वे टीका किये। लेकिन उनका वस्तु-विवेक सही है, वह वैराग्य रस से भरा है। साधकों को त्रिज्या समय-समय से पढ़ना चाहिए। उसमें वैराग्य और बोध दोनों हैं। "जासे तू सबको परखता है, सोई तेरा स्वरूप है।" "सबको अलगाय दिया" "अपने आप में स्थित हो गया।" जो कुछ मन-वाणी का व्यापार है, उसको अलग कर दिया और अपने आप में स्थित हो गया।

ना काहू सो काम है, ताको समुझ विचार। किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। इस बात को समझो और विचारो। भंडारी कहें कि हमें किसी से प्रयोजन नहीं है, हम भंडार नहीं बनायेंगे। लेकिन भात-दाल-सब्जी से तो प्रयोजन है। खाना तो पड़ेगा ही। व्यवहार में तो परस्पर सबसे सबका प्रयोजन है। मूलतः जीव का किसी से प्रयोजन नहीं है। वही माई है, वही बाप है, वही गुरु है, वही पीर है, वही भगवान है, वही सबकुछ है जिसके साहचर्य से इस जीव का बंधन छूटता है। जिसकी वाणी से, विवेक से, रहनी से, ऐसी प्रेरणा मिले कि भटका हुआ मन स्थिर हो, वही हमारा सब कुछ है, प्यारा है। अंततः वह भी साथ नहीं है। साधु का संबंध भी नित्य नहीं रहेगा। बस, थोड़े दिन का संबंध है। साधु-गुरु के प्रति श्रद्धा-भाव रखें, अपना काम कर लें, बस।

पूरण आगम अगाध को, थाह लहै नहिं कोय।

सो गुरु पारख ते निकट, बिन गुरु कछु नहिं होय॥ 127॥

श्री पूरण साहेब कहते हैं कि जो अगम अगाध है उसकी कोई थाह नहीं पाता है। बिना गुरु पारख के कुछ नहीं होता है। इसलिए गुरु पारख से ही वस्तु निकट होती है। स्वरूप का ज्ञान बहुत कठिन है। बाहरी चीजों में रम जाना सरल है किन्तु अपने में रमना कठिन है। क्योंकि बाहरी चीजों का इंद्रियों से बोध होता है। वह सामने है, हम देख ही रहे हैं। जो स्वयं है, उस स्वयं में लौटना, स्वयं में आना, स्वयं को देखना कठिन है। स्वयं तो देखने वाला है। देखने वाले को देखना बड़ी मेहनत का काम है।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते।

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

(केन उपनिषद् 2/4)

प्रतिबोध ही ज्ञान है। उसी से अमरता मिलती है। प्रति नाम लौटना। बाहर को जानना बोध है और अपने को जानना, अपने में लौट आना प्रतिबोध है। अपने में लौटने से अमरता होती है। सब कुछ छूटने वाला है, ऐसा मान कर मन में भय होता है। लेकिन संसार की कोई वस्तु मेरी नहीं है। मेरा तो अखण्ड खजाना, मेरा अपना चेतन स्वरूप है, इस ज्ञान में भय खत्म हो जाता है। एक दिन ऐसा आना है, जब सब कुछ छूटेगा। उस दिन का अभ्यास पहले से करना चाहिए। साधक जब बिस्तर पर लेटे आंखें बंद कर सोचे कि मेरा शरीर छूट गया है। संसार में मेरा कुछ भी नहीं है। इस भाव में विश्राम पा जाय। आंखें बंद करने पर अंधकार दिखाई देगा। तो यह न सोचे कि मुक्ति में ऐसा अंधकार रहेगा। वह तो देह सापेक्ष है। न वहां अंधकार है न प्रकाश है।

शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं॥ बीजक, हिण्डोला 1॥

न वहां चांद है, न सूरज है, न सितारे हैं, न रात है, न दिन है, न वहां शरद आदि ऋतुएं हैं, और न कुछ है। आत्म-अस्तित्व तो शुद्ध-बुद्ध है, निरांत-शांत, निर्विकार, निर्मल है। मौत बहुत प्यारी है। सारे दृश्यों को खत्म कर देती है। इसलिए साधक को मौत से प्यार करना चाहिए, भय नहीं। भय तब तक है, जब तक शारीरिक कामनाएं शेष हैं। शारीरिक

कामनाओं का अंत हो जाने पर भय खत्म हो जाता है। स्वरूपस्थिति का अभ्यास खूब करना चाहिए। सेवा के बाद जितना अवसर पाये खूब अध्ययन-मनन करे। वैराग्य ही समाधि है। चित्त को समेट लेना ही ध्यान है। इसी में वैराग्य की पूर्णता है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

2 अक्तूबर, 1995 ई०)